Chapter-2

अध्याय : दो : ऋषभचरण जैन : व्यक्तित्व :

:: अध्याय : दो ::

:: ऋषभचरण जैन : व्यक्तित्व ::

साहित्यकार स्वयं को अपने कृतित्व से कितना ही निरपेक्ष क्यों न रखे, उसके कृतित्व में — विषयवस्तु के चयन में, निरूपण-विधि में, शिल्प में, भाषा में — उसका व्यक्तित्व किसी-न-किसी प्रकार झलकता अवश्य है। संतति में माँ, बाप या दादा-दादी या ~~xx~~ नाना-नानी के गुण-अवगुण आनुवंशिक रूप में उतर आते हैं। ठीक उसी प्रकार साहित्यिक कृतियाँ भी लेखक या कवि की मानस-संतानें होती हैं, अतः उनमें लेखक या कवि के संस्कार, उसका परिवेश किसी-न-किसी प्रकार समाविष्ट होगा ही। कहने का अभिप्राय यह कि लेखक या कवि के व्यक्तित्व का प्रभाव या संस्कार उसके कृतित्व पर पड़े बिना नहीं रह सकता है। लेखक या कवि जिस वातावरण में, जिस परिवेश में, पलता-बढ़ता-पढ़ता है, उसका असर उसके लेखन में पर निश्चित रूप से पड़ता है।

आधुनिक काल में जिस मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है उसमें कवि या लेखक एवं उसकी कृति की आंतरिक प्रेरणाओं

के उत्स को उसके व्यक्तित्व में ढूंढा जाता है । "किसी कवि या लेखक को विशिष्ट प्रकार के शब्दों , प्रतीकों , बिम्बों , रंगों , प्रवृत्तियों , स्थितियों और पात्रों से क्यों लगाव होता है उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है । कवि के मन में पड़ी हुई ग्रंथियां रचना को कैसे प्रभावित करती हैं यह भी देखा जाता है । "[1]

विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" के उपन्यास "मां" (1929) में वास्तविक मां और गोद लेनेवाली मां के चारित्रिक वैषम्य को रेखांकित किया गया है और लेखक ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपनी मां का जो स्वाभाविक , स्वयं-प्रवाही स्नेह एवं कल्याण-भावना पुत्र के प्रति होती है , वह गोद लेनेवाली मां में नहीं हो सकती । यहां यह तथ्य ध्यातव्य है कि कौशिकजी स्वयं गोद लिए गए थे और इस प्रथा की भलाई-बुराई से भलीभांति परिचित थे ।[2]

प्रेमचन्दजी के पिता अजायबराय सन् 1897 में (जब धनपतराय केवल 17 वर्ष के थे) विमाता तथा दो सौतेले भाइयों का भार प्रेमचन्द के कन्धों पर डालकर स्वर्ग सिधार गए थे । आर्थिक संघर्ष तो था ही , ऊपर से विमाता और उनकी पत्नी में कभी नहीं पटती थी । घर में हमेशा की चिख-चिख चलती रहती । अतः प्रेमचन्द के "रंगभूमि" उपन्यास में ताहिरअली का जो चरित्र है , वह एक तरह से प्रेमचन्द की ही अन्र्वेदना का प्रतिफल है ।[3]

अतः यह एक निर्विवादित तथ्य है कि लेखक के चिंतन व सोच का प्रभाव उसकी कृति में बिम्बायित हुए बिना नहीं रह सकता और यह सोच व चिंतन लेखक के व्यक्तिगत अनुभव व अध्ययन पर आधारित होता है । दो भिन्न दृष्टिकोणवाले लेखकों को लें तो यब बात आसानी से समझी जा सकती है । भगवतीशरण मिश्र एक परंपरावादी , मूर्तिपूजा , देवदर्शन , धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि में विश्वास रखनेवाले लेखक हैं ; दूसरी तरफ नागार्जुन प्रगतिवादी-मार्क्सवादी विचारधारा के लेखक हैं । अतः "एक और अहल्या" , "नदी नहीं मुड़ती " जैसे उपन्यासों में उपन्यास नायक उक्त बातों में विश्वास रखनेवाले और आस्तिक मनोवृत्ति के हैं जबकि नागार्जुन

के उपन्यास "इमरतिया" में जमनिया-मठ में व्याप्त नैतिक भ्रष्टाचार को बेपर्द किया गया है ।

अभिप्राय यह कि लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी कृतियों पर किसी-न-किसी रूप में पड़ता अवश्य है । अतः ऋषभचरण जैन के कृतित्व को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व को समझना भी आवश्यक है ।

प्रारंभिक-जीवन तथा वंश-परंपरा : ऋषभचरण जैन का जन्म एक जनवरी सन् 1911 ई॰ को उत्तरप्रदेश के बुलन्दरशहर जिले के गांव सराय सदर में हुआ था । उनके पिता का नाम लाला हीरालाल तथा माता का नाम श्रीमती मनोहरी देवी था । लाला हीरालाल मध्यवर्गीय किन्तु प्रतिष्ठित जैन दिगम्बर परिवार से थे । इनके तीन भाई तथा दो बहिनें थीं । ला॰ लक्खूमल तथा ला॰ श्रीराम कागजी इनके बड़े भाई थे ।ला॰ छुट्टनलाल इनके अनुज थे जो लाला सरदारीमल कागजी के यहां गोद गए थे । इन्हें दो बहिनें थीं जिनके नाम क्रमशः भगवतीदेवी और शरबतीदेवी हैं । जब वे बारह वर्ष की अवस्था के थे तब दिल्ली के जैन पंच-कल्याणक के अवसर पर प्रसिद्ध जैन विद्वान तथा प्रतिष्ठित बैरिस्टर चम्पतराय के परिवार में पौत्र-रूप में दत्तक लिए गए । ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार औरस-पुत्र-रहितता के अभिशाप से ग्रसित है । वैसे भी धनी-संपन्न लोगों के यहां औरस-पुत्र की कमी ही पाई जाती है । कदाचित् ऐसे परिवारों में भेजने के लिए ईश्वर के पास पर्याप्त "कोटा" नहीं रहता होगा । स्वयं चम्पतरायजी को भी दिल्ली के सुप्रसिद्ध लाला जमनादास जौहरी परिवार में पौत्र-रूप में दत्तक लिया गया था । चम्पतराय के पिता लाला चन्दामल उनकी दुकान पर मुनीम थे ।

वंश-परम्परा : लाला जमनादास जौहरी का परिवार दिल्ली का एक प्रतिष्ठित व संस्कारी परिवार माना जाता था । यह सन् 1856-57 के गदर (प्रथम स्वाधीनता संग्राम) के आसपास का समय है । लाला जमनादास जौहरी के तीन पुत्र थे । बड़े पुत्र सोहनलाल को कोई संतान नहीं थी । उनकी मृत्यु सन् 1888-1901 के बीच कभी हुई होगी ।[4] मंझले पुत्र लाला बांकेराय "गुलमेंहदी" की गणना दिल्ली के प्रतिष्ठित लोगों

में होती थी । सन् 1877 की पौष वदी दूज को संपन्न रथयात्रा में लाला बांकेरायजी मुख्य कमेटी-मेम्बर के रूप में थे । उस समय के सुप्रसिद्ध जैन विद्वान बाबू अजितप्रसादजी एडवोकेट के पिता लाला देवीदासजी भी बांकेराय परिवार के मित्रों में आते हैं । आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने जिन्हें हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार माना है, वे लाला श्रीनिवासदास भी बांकेरायजी "गुलमेंहदी" के अच्छे मित्र थे । इनका निधन सन् 1877 और 1888 के बीच हुआ होगा । कोई निश्चित तिथि प्राप्त नहीं होती । उन्हें भी कोई सन्तान नहीं थी, अतः बैरिस्टर चम्पतराय को पुत्र-रूप में गोद लिया गया ।

लाला जमनादास जौहरी के तीसरे पुत्र लाला सौदागरमल के एक पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं । पुत्र का नाम लाला गुटटूमल था । गुटटूमल भी असमय ही निःसंतान रूप से स्वर्गवासी हुए । अतः बख्तावरमल को दत्तक-पुत्र के रूप में लिया गया । उनकी मृत्यु भी शीघ्र हो हुई । बख्तावरमलजी की विधवा पत्नी श्रीमती कृष्णादेवी थीं । बैरिस्टर चम्पतराय के भी कोई संतान नहीं हुई, अतः उन्होंने कृष्णादेवी के पुत्र के रूप में सन् 1923 में ऋषभचरणजी को दत्तक-पौत्र के रूप में लिया ।

बैरिस्टर चम्पतरायजी का विवाह बाबू प्यारेलालजी वकील की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती सेवादेवी के साथ हुआ था । उस समय चम्पतरायजी ग्यारह वर्ष के और श्रीमती सेवादेवी सात वर्ष की थीं । श्रीमती सेवादेवी कुरूप और मानसिक रूप से अर्ध-विक्षिप्त थीं । यह विवाह-संबंध उनके लिए अभिशाप-सा सिद्ध हुआ । यह एक बेमेल-विवाह था । चम्पतरायजी एक अत्यन्त स्वरूपवान युवक थे । पढ़ने में भी तेज़-तर्रार । पत्नी कुरूप और अर्धविक्षिप्त । दिल्ली के सेण्ट स्टीफन कोलेज में पढ़ने के बाद लन्दन बैरिस्टरी पढ़ने चले गये । उसी दौरान लाला बांकेरायजी का स्वर्गवास हो गया और बाबू प्यारेलालजी ने पगली बिटिया की आड़ में उनकी सारी संपत्ति पर कब्जा कर लिया ।[5]

वह जमाना बहु-विवाह का था । अतः चम्पतरायजी का दूसरा विवाह हो भी सकता था और वे स्वयं भी दूसरा विवाह करना चाहते थे, परन्तु सन् 1900 तक में उनके परिवार के सभी बुजुर्गों की मृत्यु हो चुकी थी

और प्यारेलालजी नहीं चाहते थे कि चम्पतराय दूसरा विवाह करे । अंततः प्यारेलालजी से आतंकित होकर चम्पतराय दिल्ली छोड़कर हरदोई प्रैक्टिस करने चले गए ।[6] यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि बाद में उन्होंने अपने चचेरे भाई लाला गुद्दुमलजी की विधवा पुत्रवधू {श्रीमती कृष्णादेवी} के लिए वंश-परंपरा की रक्षा हेतु ऋषभचरणजी को दत्तक-पौत्र के रूप में ग्रहण किया । दत्तक लेने से पूर्व उनका नाम शिवचरण था , जो बादमें ऋषभचरण के रूप में परिवर्तित हो गया ।

सन् 1923 में दत्तक लिए जाने के बाद ऋषभचरण अपनी दत्तक-मां तथा नानी के साथ " कूचा पाती राम मोहल्ला "इमली" गली इन्दरवाली में श्रीराम कलकत्ते वालों के मकान में रहते थे । उस समय बैरिस्टर चम्पतराय हरदोई में प्रैक्टिस करते थे । उनका व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली था । वे एक सफल बैरिस्टर , नदीष्ण विद्वान , कुशल लेखक तथा प्रत्युत्पन्न-मति-संपन्न वक्ता थे । उनकी मेधा अनेक आयामी थी । वे एक कुशल नेता तथा जाति के अग्रणी व्यक्ति थे । दादा चम्पतराय के इस प्रभावी व्यक्तित्व एवं बहुआयामी मेधा का समुचित प्रभाव हम ऋषभचरण जी में भी देख सकते हैं । प्रेमचन्द-युग के वे एक सशक्त लेखक हैं जिन्होंने अपने बहुचर्चित उपन्यासों के द्वारा सामाजिक कुरीतियों से उत्पन्न गंदगी को बेपर्द करने का क्रांतिकारी एवं प्रशंसनीय कार्य किया है । लेखक व प्रकाशक के रूप में उन्होंने अपार कीर्ति एवं विपुल धन-संपत्ति को अर्जित किया था । सन् 1925 से उनकी लेखन-यात्रा जो प्रारंभित हुई वह अनवरत सन् 1942 तक चलती रही । सन् 1942 से उन्होंने फिल्म-वितरण का कार्य आरंभ किया । उसमें उन्होंने अपने जमे-जमाये प्रकाशन व्यवसाय को कौड़ियों के मोल बिखेर दिया । शुरू में फिल्म-वितरण के व्यवसाय में खूब कमाये , परन्तु सन् 1945 के बाद उनका पतन आरंभ हुआ तो लगातार आर्थिक स्थिति गिरती ही गई । फलतः वे विक्षिप्त हो गये । अन्ततः सात अगस्त सन् 1985 को उनका स्वर्गवास हो गया ।[7]

सम्प्रति ऋषभचरणजी का परिवार दिल्ली में हिन्दी ग्रंथों के प्रकाशन का व्यवसाय "ऋषभचरण जैन एवं संतति " के नामसे कुशलतापूर्वक चला रहा है । ऋषभचरण जैन के सुपुत्र श्री दिग्दर्शनचरण जैन इस व्यवसाय को भलीभांति संभाले

हुए हैं । ऋषभजी की पत्नी श्रीमती शांतिदेवी एक भारतीय सन्नारी तथा कुशल गृहिणी हैं । पुत्री वीणा विवाहित हैं । जमाता महेश चन्द्रा आर्मी में केप्टन हैं । ~~इनके दो पुत्र हैं --- निर्विकार और कन्दर्प --~~ उनके एक पुत्र है है -- तन्मय । ऋषभजी के एक-मात्र पुत्र श्री दिग्दर्शनजी {ज्ञानप्रकाश} हैं जिनका विवाह दिल्ली के प्रसिद्ध जैन परिवार "टिप्परचन्द मुसद्दीलाल" के लाला कंवरसेन की कनिष्ठ पुत्री विभा से संपन्न हुआ । जिनसे उन्हें दो पुत्र हैं -- निर्विकार और कन्दर्प । इस प्रकार वह मुरझायी हुई वंश-बेल जिसे चम्पतरायजी और श्रीमती कृष्णादेवी { धर्मपत्नी ला. बख्तावरमल } ने ऋषभजी को दत्तक लेकर पुनःपल्लवित करने का यत्न किया था , सम्प्रति फल-फूलों से लदी हुई है और आगे भी ऐसे ही लहलहाती रहेगी ऐसी हम कामना करते हैं ।

पारिवारिक उतार-चढ़ाव : ऋषभचरणजी जैन के परिवार {जिस परिवार में वे गोद लिए गए} ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हुए हैं । नादिरशाही चपेट तथा 1857 के गदर में , यों दोबार उनका व्यापार नष्ट हो चुका था । परन्तु यह इस परिवार की आंतरिक ऊर्जा ही है , जो वह पुनः पुनः खड़ा हो जाता है । यह पहले बताया जा चुका है कि चम्पतरायजी का विवाह बाबू प्यारेलाल वकील की ज्येष्ठ-पुत्री सेवादेवी से हुआ था जो एक तरह से इस परिवार के लिए अभिशाप-रूप सिद्ध हुआ क्योंकि सेवादेवी विक्षिप्त और कुरूप थीं और चम्पतरायजी से उनका विवाह एक बेमेल-विवाह था । बिटिया की आड़ में प्यारेलालजी ने चम्पतरायजी की संपत्ति पर भी अधिकार जमा लिया था और उनसे आतंकित होकर उन्हें हरदोई जाना पड़ा था , परन्तु अपनी बुद्धि-प्रतिभा तथा बैरिस्टरी के जोर पर उन्होंने पुनः स्वयं को स्थापित किया । निःसंतान होने के कारण जब वंश-बेल खत्म होती दिखी तो उन्होंने ऋषभ-चरणजी को पौत्र-रूप में ग्रहण करके उसे पुनः पल्लवित-पुष्पित-फलित करने का यत्न किया ।

शैशवकालीन प्रभाव : शैशवकालीन प्रभाव जीवन को बहुत गहराई तक प्रभावित करते हैं । शिशु के मनो-मुकुर में जो भाव-छवियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं , वे चिर-स्थायी रहती हैं । प्रेमचन्द

जब आठ वर्ष के थे तब सन् 1888 में उनकी माता आनंदीदेवी का देहांत हो गया था । मां की यह कमी इतनी गहरी , इतनी तड़पानेवाली रही कि उसके दर्द की टीस ज़िन्दगीभर बनी रही । यह वही टीस है जो उनके उपन्यास "कर्मभूमि" के अमरकान्त द्वारा अभिव्यक्त हुई है — " ज़िन्दगी की वह उम्र जब इन्सान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है , बचपन है , उस वक्त पौदे को तरी मिल जाय तो ज़िन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं । उस वक्त खुराक न पाकर उसकी ज़िन्दगी खुश्क हो जाती है । मेरी मां का इसी जमाने में देहांत हुआ और तबसे मेरी रूह को खुराक नहीं मिली , वह भूख मेरी ज़िन्दगी है । " 8

कहने का तात्पर्य यह कि शैशवकालीन प्रभाव किसी भी लेखक के कृतित्व को बहुत हद तक प्रभावित करते हैं । अतः घर और परिवार के वातावरण ने ऋषभजी के व्यक्तित्व को , अतएव कृतित्व को भी , प्रभावित किया है । पूर्वजों की अतुलनीय संपत्ति के स्वामी थे बैरिस्टर चम्पतरायजी । दूसरे उनका लालन-पालन , शिक्षा इत्यादि भी आधुनिक ढंग से हुआ । स्वयं भी बैरिस्टर होने के नाते खूब कमाते थे । अतः उनका जीवन अत्यंत ही ऐश्वर्यशाली था । विलासिता और रईशाना मौज-शौक उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे । दादा के इस वैभवी-विलासी जीवन का प्रभाव ऋषभजी पर भी पड़ा । इनका शैशव बहुत ही लाड़-प्यार में बीता । अतः उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार का दबंगपना और साहसिकता के दर्शन होते हैं । "मयखाना" , "चम्पाकली" , "हिज हाइनेस" प्रभृति उपन्यासों के नायकों में जो रइशाना अन्दाज़ मिलते हैं , उसका कारण उनका भरा-पूरा बचपन तथा दादाजी के वैभवी , शानो-शौकत से भरपूर , अन्दाज़ थे । देखिए "चम्पाकली" उपन्यास के रामदयालजी का एक चित्र — " काली सर्ज की अचकन , चूड़ीदार पाजामा और मखमली किश्ती-नुमा टोपी । झकाझक करती हुई हीरे की अंगूठी और महंगी-से-महंगी "अेक" का सिगरेट । मुंह में पानों की लाली और आंखों में शराब की खुमारी । ... सलीमशाही जूते थे ; जिन पर सच्चे और कीमती सलमे की बेल थी । रेशमी मोजे और जूतों की जगमगाहट छत की बिजली की बत्ती से टकराकर अजब सीन पैदा कर देती थी । " 9

ऋषभचरणजी की दत्तक-माँ श्रीमती कृष्णादेवी (किशनदेई) बाल-विधवा थीं । वह एक धर्मपरायण तथा नम्रता पर दृढ़ चरित्र से युक्त कट्टर जैनी महिला थीं । पर्युषण के दिनों में वे कठोर व्रतों का पालन करती थीं । कई बार तो पाँच-पाँच दिन का उपवास रखती थीं । माँ के इस तपोपूत दृढ़ जीवन का प्रभाव भी शिशु ऋषभ पर पड़ा, जिसने बादमें उनके व्यक्तित्व में दृढ़ता जैसे गुणों को स्थिर किया ।

शिक्षा-दीक्षा : हिन्दी के इस महान साहित्यकार की प्राथमिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में पं. मुंशीराम शर्मा की निगरानी में हुई । इसके बाद दिल्ली के कार्मशियल हाईस्कूल में आ गये । तत्पश्चात् दिल्ली के ऐंग्लो संस्कृत विक्टोरिया जुबली हाईस्कूल (अंबाप्रसाद विद्यालय) से सन् 1927 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की । उनकी प्रखर मेधा का परिचय तो इससे ही मिल जाता है कि हाईस्कूल के दिनों से ही पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ प्रकाशित होने लगी थीं । हाईस्कूल के बाद की पढ़ाई के लिए उन्होंने दिल्ली के सुप्रसिद्ध हिन्दू कॉलेज में दाखिला लिया । (यह स्मरण रहे कि गुजरात के वर्तमान राज्यपाल डा. स्वरूपसिंह इसी कालेज में कभी अंग्रेजी के व्याख्याता थे ।) परन्तु तभी महात्मा गांधीजी का असहयोग आंदोलन छिड़ गया । युवा-किशोर ऋषभ ने भी राष्ट्रपिता के उस आह्वान पर एफ.ए. की कक्षा से अपनी पढ़ाई को तिलांजलि दे दी । इसके बाद "अपने दादा बैरिस्टर चम्पतराय की देखरेख में हरदोई में भी ऋषभचरण जैन की अंग्रेजी ढंग की कुछ शिक्षा हुई, पर आपकी पटरी वहाँ ठीक न बैठने के कारण, वे उखड़कर दिल्ली में चले आये और लेखक-त्रयी में जुड़ गए ।"[10] अतः कह सकते हैं कि ऋषभजी की अकादमिक शिक्षा तो एफ.ए. से आगे नहीं हुई, पर संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी आदि का गहरा अध्ययन उन्होंने व्यक्तिशः फ़ि रूप से किया ।

पारिवारिक-जीवन : यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ऋषभजी का जन्म सन् 1911 में, ग्राम सराय सदर, जिला बुलन्दशहर (उ.प्र.) में एक प्रतिष्ठित मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था । उनके पिता लाला हीरालाल थे । माता का नाम श्रीमती मनोहरी-

देवी था । ऋषभजी के अलावा उनके जन्मदाता पिता के तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ थे । बड़े पुत्र लक्खूमल दिल्ली के प्रतिष्ठित अनाज के व्यापारियों में गिने जाते थे । पचीस वर्ष पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया । छोटे भाई लाला छुट्टनलाल लाला सरदारीमल कागजी के यहाँ गोद गए थे । उनकी मृत्यु भी अल्पायु में ही हो गई । अतः उनके मँझले भाई लाला श्रीरामजी लाला सरदारीमलजी का कागज़ का सारा व्यापार संभालते थे ।इसका एक परिणाम यह हुआ कि जब ऋषभजी ने प्रकाशन और प्रेस का काम संभाला तो उन्हें कागज की दिक्कत कभी नहीं हुई । अब श्रीरामजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री ओमप्रकाश जैन वह व्यवसाय संभालते हैं और सम्प्रति दिल्ली के प्रमुख कागज व्यापारी हैं । दिल्ली के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में उनका एक विशिष्ट स्थान है । वे निगम कौंसिलर भी रह चुके हैं । उनके दूसरे भतीजे श्री महेन्द्रकुमार भी कागज के प्रसिद्ध व्यापारी हैं और दरियागंज क्षेत्र से निगम-पार्षद हैं । तीसरे पवनकुमार प्लास्टिक के निर्माता हैं । शेष तीन भतीजे भी स्वतंत्र व्यवसायों में हैं । ऋषभजी की बड़ी बहन शरबतीदेवी का परिवार भी भरा-पूरा है । उनके पुत्र-पौत्र -प्रपौत्र आदि दिल्ली के शाहदरा विस्तार में रहते हैं और ताँबे के तार तथा रेडियो एरियल आदि के प्रमुख निर्माता हैं । ऋषभजी के भानजे बाबू जुगलकिशोर अभी कुछ वर्ष पूर्व (लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व) गोलोकवासी हुए । उनका परिवार भी संपन्न व सुखी है ।[11]

गोद लिए जाने के पाँच वर्ष बाद सन् 1928 में ऋषभजी का विवाह ~~श्रीमती शांतिदेवी से हुआ~~ शांतिदेवी से हुआ । तब वे 17 वर्ष के थे और शांतिदेवीजी 12 वर्ष की । इससे प्रमाणित होता है कि तब प्रतिष्ठित परिवारों में भी शादी-ब्याह पहले हो जाते हैं । आजकल इसका उल्टा हो गया है । अब छोटी जातियों में ब्याह जल्दी होते हैं और शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवारों में विवाह बड़ी उम्र में होते हैं । शांतिदेवीजी फिरोजपुर (पंजाब) के प्रतिष्ठित परिवार से थीं । अतः एक जन्म-जात आभिजात्य उनमें दृष्टिगत होता है । रायसाहब ज्योतिप्रसाद, लाला पवनलालजी तेज अखबारवाले, स्व. लाला मोतीलाल जैन (जनरल ट्रेडर्स एजेन्सी के मालिक) आदि ऋषभजी के ससुराल पक्ष से निकट के संबंधी (साले) होते हैं ।

शांतिदेवीजी एक अत्यंत सुहृद सुंदर , सुशील , धरती-सी सर्व-सहा , सहनशील , सहिष्णु , ईश्वरपरायण तथा सेवाभावी महिला हैं । वे पंजाब के अपेक्षाकृत सीधेसादे वातावरण में पली । दिल्ली के ठाठबाट , रईसाना अन्दाज़ , वैभव-प्रदर्शन , विलासिता आदि के परिवेश से वे पूर्णतः अनभिज्ञ थीं । फलतः स्वयं को ऐसे परिवेश के अनुरूप ढाल न सकीं । उनके यहां चरित्र-विषयक भावनाएं और विचार कुछ और ही थे , अतः पति ऋषभजी के "रक्षिता" रख लेने पर वे कुछ टूट-सी गईं और सौतिया डाह के कारण मन में जो आग भभक उठी उससे उनका दाम्पत्य-सुख लुट गया ।

शांतिदेवीजी एक सीधीसादी गृहिणी तथा अत्यन्त परिश्रमी महिला हैं । दस्तकारी तथा सिलाई-कढ़ाई के काम में वे अत्यन्त दक्ष हैं । पंजाब की लड़कियों में यह विशेषता तो होती ही है । परिवार को जब प्रतिकूल परिस्थितियों से गुजरना पड़ा तब इसी कला के बलबूते और दक्षता पर उन्होंने अपने बाल-बच्चों को पाला-पोसा था । अभी भी वे पूर्णतया स्वस्थ हैं । अपनी बेटी वीणा तथा नाती तन्मय के साथ दिल्ली में ही रहती हैं ।

ऋषभजी का परिवार सीमित है । उनके एक पुत्र और पुत्री हुए । पुत्र दिग्दर्शनचरण जैन ﴾ ज्ञानप्रकाश﴿ अपने पैतृक व्यवसाय — प्रकाशन के व्यवसाय — को संभाले हुए हैं । "ऋषभचरण जैन एवं संतति " तथा "ज्ञान प्रकाशन" उनकी प्रकाशन संस्थाएं हैं , जहां से हिन्दी के कई लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों के ग्रंथ तथा शोध-प्रबंध प्रकाशित होते रहते हैं । ऋषभजी के साहित्य का पुनः प्रकाशन भी यहीं से होता है । डा. भारतभूषण अग्रवाल का बहुचर्चित एवं मूल्यवान व उपयोगी शोध-प्रबंध " हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव " यहां से प्रकाशित हुआ है । वे एक प्रामाणिक , परिश्रमी एवं साहसी प्रकाशक हैं । अपने पिता ऋषभजी के उक्त गुण उनमें भी उतर आए हैं । वे एक कुशल प्रबंधक व व्यवसायी भी हैं ।

उनकी पुत्री वीणा का विवाह "बिसौली" जिला बदायूं के प्रसिद्ध साहू परिवार में हुआ है । उनके पति केप्टन महेश चन्द्रा इण्डियन एरलाइन्स में केप्टन हैं । बेटी के एक पुत्र है - तन्मय । दामाद की बहिन प्रथम भारत-

रत्न" डा. भगवानदासजी के पोते बाबू श्रीप्रकाशजी के भतीजी से ब्याही है। इससे इनके परिवार की उच्चवर्गीय कुलीनता दृष्टिगत होती है।[12]

ऋषभजी के पुत्र श्री दिग्दर्शनचरण जैन का विवाह भी दिल्ली के ऋद्धि× प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित जैन परिवार "टिप्परचन्द मुसद्दीलाल" के लाला कंवरसेन की कनिष्ठ पुत्री विभादेवी से हुआ है। विभादेवी एक सुशील, सुंदर, संस्कारी व कुशल गृहिणी हैं। इनसे ज्ञानजी को दो पुत्र हुए -- निर्विकार और कन्दर्प। इस प्रकार ऋषभजी का परिवार सम्प्रति दिल्ली के दरियागंज जैसे प्रतिष्ठित विस्तार में फल-फूल रहा है।[13]

ऋषभजी अपने बेटे दिग्दर्शनचरण के साथ रहते थे। घर में बच्चों के प्रति उनका व्यवहार वात्सल्यपूर्ण रहता था। छोटे-बड़ों सभी के प्रति उनका व्यवहार शिष्ट, सभ्य, सौम्य व सौहार्द्रपूर्ण होता था। कभी किसी के साथ अपमानजनक व्यवहार न वे करते थे, न किसीके ऐसे व्यवहार को चला लेते थे। जीवन के अंतिम चरण में जब वे मानसिक दृष्टया असंतुलित थे तब भी उनके स्वभाव में उक्त उच्च प्रकार के लक्षण पाए जाते थे। हाँ, किसी भी प्रकार की और किसीकी भी बदतमीजी वे बरदाश्त नहीं कर सकते थे।[14]

ऋषभजी के परिवार में आर्थिक दृष्टया अनेक उतार-चढ़ाव आए हैं। अपने दत्तक-दादा बैरिस्टर चम्पतराय के जमाने में उन्होंने परिवार को समृद्धि में लोटपोट होते देखा था, परन्तु बादमें एक मामले को लेकर उनकी दादा चम्पतराय से अनबन हो गई (इसका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायेगा) और सन् 1942 में उनकी मृत्यु के कुछ पूर्व उन्होंने ऋषभजी को पैतृक संपत्ति से वंचित कर दिया। पर नवयुवक ऋषभ ने किसीके आगे झुकना सीखा नहीं था। साहस, लगन व अथक परिश्रम से उन्होंने फिल्म वितरण के व्यवसाय को अपनाया और अतुल संपत्ति के स्वामी बने। परन्तु सन् 1945 में "पराया धन" नामक फिल्म असफल हुई और यहीं से उनका आर्थिक-पतन प्रारंभ हुआ। व्यवसाय में खोट पर खोट और संबंधों में चोट पर चोट खाते गए। इन आघातों को उनका कोमल संवेदनशील साहित्यिक मन बर्दाश्त नहीं कर पाया और सन् 1949 से वे विक्षिप्त-से हो गये और अन्ततः सन् 1985 में 7 अगस्त को उनका देहान्त हो गया। क्षर देह तो पंचतत्त्वों में

विलीन हो गया , पर उनका अक्षर देह -- उनका साहित्य -- तो आज भी हमारे सामने है ।

ऋषभजी का बाहरी व्यक्तित्व : उपन्यास के पात्रों की ही भांति मनुष्य के जीवन में भी उसके व्यक्तित्व के दो पहलू मिलते हैं — बाहरी व्यक्तित्व या बाहरी आपा और आंतरिक व्यक्तित्व या भीतरी आपा । बाहरी आपा में मनुष्य के बहिरंग को लिया जाता है जिसमें उसका आकार-प्रकार , कद , देह का वर्ण , दाढ़ी-मूँछ-बाल , वेशभूषा , भाषा , चाल-ढाल , बातचीत का ढंग , तकिया कलाम , कार्यकलाप आदि को परिगणित कर सकते हैं । मनुष्य का यह बाहरी रूप कुछ हद तक उसके आंतरिक रूप को प्रभावित करता है , अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी लेखक या कवि का बाहरी व्यक्तित्व उसके भीतरी व्यक्तित्व को और अतएव उसके कृतित्व को प्रभावित करता है । ऋषभजी का बाहरी व्यक्तित्व भी टॉल्स्टोय , टैगोर , लार्ड बायरन , तेलुगु के कवि शेषेन्द्र शर्मा की भांति अत्यंत तेजस्वी , प्रोज्ज्वल , गरिमामय एवं आकर्षक प्रतीत होता है ।[14]

ऋषभजी छः फूट ऊँचे , तगड़े , स्वस्थ , हृष्ट-पुष्ट तथा गठिले बदन वाले नौजवान थे । उनका मुखमंडल गंभीरता व प्रौढ़ता से दीप्त रहता था । लक्ष्मी , सरस्वती और स्वास्थ्य या दैहिक सुंदरता इन तीनों का एक व्यक्ति में संगम विरलता से ही मिलता है ; परन्तु इन तीनों का संगम हमें ऋषभजी में मिलता है । सेहत , विद्या और धन ये तीनों चीजें इन्हें प्राप्त थीं । इनके इस आकर्षक-लुभावने व्यक्तित्व के कारण देखने वालों में ईर्ष्याग्नि की एक लपट-सी उठ जाती थी । जैनेन्द्रजी इस सन्दर्भ में कहते हैं — " .... जब व्यक्तित्व की टकराहट हुई तो लोग ऋषभजी के आगे नहीं ठहर सके । "[15] उन दिनों उनके कृपापात्र बने रहने के लिए लोगों में होड़-सी मची हुई थी ।

उन दिनों ऋषभजी की गणना दिल्ली के शौकीन रईसों में होती थी । उनका रईसाना अन्दाज़ और ठाटबाट देखते ही बनता था । एक कवि

की गर्वोक्ति है -- " हैसियत नहीं है हमारी उन पादशाहों की / पर हम जीते हैं ज़िन्दगी बादशाहों की । "[16] परन्तु यहां तो ऋषभजी की हैसियत भी बादशाहनुमा थी और तबीयत तो उसके अनुरूप थी ही । श्री रामनाथजी "सुमन" ने उनके व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए लिखा है -- " एक थे ऋषभचरण जैन , बढ़िया लेखक और उससे भी बढ़िया आदमी । राजसिक वृत्ति , शान-शौकत के प्रेमी , सदा सुगंध से भरे , अत्यन्त सहृदय , कई उपन्यासों के लेखक , प्रकाशन भी था उनका । बाद में सिनेमा संबंधी सर्वोत्तम मासिक 'चित्रपट' निकाला । लाखों कमाये , लाखों गंवाये । उनमें प्रतिभा थी , शैली भी चुटीली थी । "[17]

ऋषभजी अभिजात और परिस्कृत रूचि के व्यक्ति थे । उनकी हर बात निराली होती थी । खाना-पीना , उठना-बैठना , चलना-फिरना सबमें एक अनोखापन रहा करता था । प्रायः देखा जा सकता है कि साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं हुआ करती है , परन्तु ऋषभजी आर्थिक दृष्टि से संपन्न थे । उस जमाने में उनके घर का सोफा ही चार हजार का था । इससे उनकी संपन्नता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । दिल्ली के दरियागंज जैसे विस्तार में उनका अपना आलीशान बिल्डिंग था । आप हिन्दी के पहले लेखक थे , जिनका दिल्ली में अपना घर था , अपना प्रेस था । उन्होंने बम्बई की प्रसिद्ध अभिनेत्री सुलोचना (रूबी मायर्स) से कार भी खरीदी थी । उन दिनों समाज में उनकी गणना दिल्ली के गिने-चुने प्रतिष्ठित व्यक्तियों में होती थी ।

आधुनिक व मोडर्न ढंग की वेशभूषा में ऋषभजी का व्यक्तित्व उन्हें एक विशिष्ट प्रकार की गरिमा से मंडित करता था । बढ़िया काला बन्द गले का सूट तथा चीनी पम्प शू (जूते) उनकी व्यावसायिक वेशभूषा थी । उनके समकालीनों में एक थे श्री गोविन्द सहाय । वे आज भी उनके ठाट-बाट तथा शानो-शौकत के विषय में बताते हैं कि ऋषभजी के पैण्ट की क्रीज़ कभी खराब नहीं होती थी ।

लोग-बाग आपके व्यक्तित्व से डरते व दबते भी थे । हालांकि

समय के बदलाव के साथ वे भी गांधीवाद के प्रभाव से अछूते न रह सके और शनैः शनैः उनकी वेशभूषा राष्ट्रीय नेताओं-सी होती गई । सफेद सिल्कन कुर्ता तथा धोती । ऊपर से शाल ओढ़ लिया करते थे । पैर में चप्पल । एकदम साहित्यकारों का पहिनावा । उन दिनों उन्होंने गांधीटोपी भी पहनना शुरू किया था । प्रेमचन्द के जैसी मूँछें भी रखते थे । उनके घर-परिवार में सन् 1931 के समय का एक छायाचित्र भी है जिसमें प्रेमचन्द , जैनेन्द्र तथा ऋषभजी एक जैसी वेशभूषा में दृष्टिगोचर हो रहे हैं ।

आंतरिक व्यक्तित्व या भीतरी आपा : आंतरिक व्यक्तित्व या भीतरी आपा में किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों की चर्चा होती है । व्यक्तिगत रूप से ऋषभजी समय और अनुशासन के बहुत ही आग्रही थे । व्यक्तिगत मुलाकात से ज्ञात हुआ कि उनका प्रेस घर के नीचे ही था , परन्तु वहाँ बच्चों का प्रवेश निषेध था । वे वहाँ जा नहीं सकते थे । उनकी सुपुत्री वीणादेवी से ज्ञात हुआ भैया (दिग्दर्शनचरण) के प्रति अनुशासन के नियम बड़े कड़े थे और वे उनसे खूब डरते थे । वैसे घर में उनका एक दूसरा ही पितृ-वत्सल रूप देखने को मिलता था । यहाँ वे एक वात्सल्य-मूर्ति पिता होते थे और बच्चों को बहुत ही प्यार करते थे । बच्चों को मारना-पीटना भी उन्हें उपयुक्त नहीं लगता था । घर में नवजात शिशु के प्रवेश पर उसका नामकरण संस्कार भी वे स्वयं करते थे ।[18]

ऋषभजी के दादा बैरिस्टर चम्पतराय एक सफल एडवोकेट , गंभीर विद्वान , कुशल लेखक , मेधावी तथा प्रभावशाली वक्ता थे । प्राकृत , उर्दू , हिन्दी तथा अंग्रेजी पर आपका पूर्णतया अधिकार था । अनवरत उद्यम-शीलता तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण जीवन के विविध क्षेत्रों में आपने भरपूर सफलता हासिल की थी । ऋषभजी में ये गुण उपलब्ध होते हैं । जब लेखन या प्रेस के काम में डूब जाते तो उन्हें खाने-पीने का होश नहीं रहता था । वे घण्टों अपने काम में डूबे रहते । यहाँ उनकी तुलना प्रेमचन्द से कर सकते हैं । प्रेमचन्दजी भी इतने परिश्रमी थे कि उनके एक जीवनीकार (मदन-गोपाल) ने उन्हें "कलम का मजदूर " कहा है । प्रसिद्ध चित्रकार पिकासो

तथा फ्रांसीसी लेखक बाल्ज़ाक के संबंध में भी यही जानने को मिलता है कि वे जब अपने काम में डूब जाते थे तो उन्हें किसी बात का होश नहीं रहता था । यह गुण ऋषभजी में भी था ।

अपनी व्यक्तिगत लेखकीय एवं व्यावसायिक साधना में ऋषभजी का जीवन अनुशासित तो था ही , साथ ही परिश्रमी भी इतने थे कि रात-रात भर प्रेस में बैठकर काम करते थे । इस संदर्भ में उनकी पत्नी श्रीमती शांति-देवीजी बताती हैं -- " आप लिखते समय एक पैर कुर्सी पर तथा एक पैर नीचे रखते थे । कई बार तो लिखते-लिखते उंगलियों पर छाले पड़ जाते । प्रायः लिखते समय कमरा बन्द कर लेते थे । सप्ताह में एक बार मौन भी रखते थे । उस दिन सभी बातें लिखित रूप में ही करते थे । उनकी एक विशेषता यह थी कि वे निर्णय बहुत जल्द ले लिया करते थे । उसके परिणाम की ज्यादा परवाह करते नहीं थे । आप अत्यन्त ही दयालु और उदार दिलवाले इन्सान थे । एक मौसम के कपड़े दूसरे मौसम में नहीं पहनते थे । कहा करते थे कि बिस्तर , रजाई तथा गरम कपड़े गरमी की मौसम में बन्द रखने की आवश्यकता नहीं , उन्हें दान में दे दो । अनेक असहायों तथा विधवाओं के लिए हर माह आर्थिक सहायता निश्चित थी । उनमें 'तेरे' 'मेरे' का कोई भेदभाव नहीं था । वे स्वार्थी और लालची नहीं थे । पैसे कमाने का मोह था पर उसके लिए आत्माभिमान खोना उनकी खुद्दारी को मंजूर नहीं था । पैसे की सार्थकता-निरर्थकता उभय को वे जान चुके थे । सरकार द्वारा हिन्दी लेखकों के महीने बांधने की बात उन्हें पसन्द नहीं थी । वे अक्सर कहा करते थे कि मेरे पास तो कलम और कागज है । मैं तो जंगल में बैठकर कमा सकता हूं ... मैं तो राजा हूं । " [19] अतः उन्हें यह कतई-कतई स्वीकार न था कि हिन्दी का लेखक आर्थिक सहायता के लिए सरकार का मुखापेक्षी रहे ।

पहले अत्यन्त वैभवी जीवन पसंद करते थे , परन्तु युगानुरूप यथेष्ट परिवर्तन भी उनके जीवन में परिलक्षित होता है । गांधीवाद के प्रभाव के पश्चात् उनके जीवन में सादगी आती गई । उदारता एवं वैचारिक व्यापकता भी बढ़ती गई । अनेक धर्मों का सूक्ष्म व गहन अध्ययन आपने

किया था । फलतः धार्मिक सहिष्णुता आपमें पाई जाती है । परन्तु अन्ततः आपका झुकाव "मानव-धर्म " की ओर होता गया और यह लगाव इतना बढ़ा कि अन्ततः आपने अपना उपनाम ही "मानव" कर दिया था ।

मित्र-मंडल : अंग्रेजी में एक कहावत है -- " ए मेन इज़ नोन बाय द कंपनी ही कीप्स " -- अर्थात् किसी भी मनुष्य के चरित्र और व्यक्तित्व की पहचान उसके मित्रों से भी होती है । टैगोर , प्रेमचन्द , प्रसाद , भारतेन्दु , नर्मद (गुजराती के प्रसिद्ध कवि व लेखक) , अज्ञेय , कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी प्रभृति साहित्यकारों तथा महामना व्यक्तियों का परिचय हमें उनकी मित्र-मण्डली द्वारा भी होता है । जैसे किसी महापुरुष का चित्र बनाते हैं तो उसके आसपास एक तेज-वर्तुल (ओरेना) बनाया जाता है , वैसे प्रत्येक महापुरुष भी ऐसे तेजस्वी व्यक्तियों से आवर्तित रहता है ।

लेखक-साहित्यकार और प्रकाशक-मुद्रक-फिल्म-वितरक यों आपका व्यक्तित्व उभयमुखी होने के कारण आपकी मित्र-मण्डली में भी दो प्रकार के लोग मिलते हैं -- साहित्यिक और व्यावसायिक । साहित्यिक मित्रों में जैनेन्द्र, प्रेमचन्द , यशपाल जैन , पांडेय बेचन शर्मा "उग्र" , यशपाल , चतुरसेन शास्त्री , यशपाल जैन , डा. नगेन्द्र , सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला , पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरजी , जयशंकर प्रसाद , सियारामशरण गुप्त , रामचन्द्र वर्मा , क्रांतिकारी वीर सावरकर , डा. विनोदशंकर , डा. रामनाथ सुमन , डा. क्षेमचन्द्र "सुमन" , डा. सत्येन्द्र , डा. धर्मपाल गुप्त , उर्दू के पत्रकार गोविन्द सहाय तथा श्री रामशरण शर्मा आदि आते हैं । संपादन तथा प्रकाशन में संपतलाल पुरोहित , जगतकुमार शास्त्री , प्रभात विद्यार्थी , अजितप्रसाद जैन तथा डा. गोपालसिंह नेपाली जैसे साहित्यिक मित्रों का सहयोग रहा । उनके व्यावसायिक मित्रों में प्रसिद्ध बाल-चिकित्सक डा. कन्हैयालाल , जय इंजिनियरिंग वर्क्स के भू.पू. जनरल मैनेजर स्व. बाबू बिशनस्वरूपजी अग्रवाल , बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी श्री देवीप्रसादजी खण्डेलवाल तथा बम्बई के प्रसिद्ध फिल्म निर्माता स्व. चन्दुलाल शाह प्रभृति अत्यन्त निकटस्थ और घनिष्ठ थे ।[20] इससे उनकी अनुभव-प्रवणता एवं व्यापकता का संकेत मिलता है ।

ऋषभजी के सन्दर्भ में जैनेन्द्रजी एक स्थान पर कहते हैं — " उन्होंने मुझे उठाया और बढ़ाया । वे अत्यन्त प्रतिभाशाली थे , प्रतिभाशाली काफी नहीं है , अत्यन्त भी लगाना पड़ता है । मैं तो हिन्दी के पूरे ही चित्र से परिचित हूं , मेरा परिचय लगभग सभी से है — कह सकता हूं कि इतना प्रभावशाली कोई दूसरा मुझे नहीं मिला । ऋषभजी के सन्दर्भ में " अत्यन्त " इसलिए कहना पड़ता है क्योंकि वे समीमाओं को स्वीकार नहीं करते थे , चाहे वे सामाजिक नैतिकता की हो , प्रशासनिक या कानूनी हो या और प्रकार की हो । ऐसा मालूम पड़ता है कि सीमाओं का जहां पता चले -- सफलता की सीमा का भी पता चले , उनके अतिक्रमण करने की उनकी इच्छा होती थी । " [21]

इस सन्दर्भ में मेरे मस्तिष्क में मेरे निर्देशक डा. देसाई की निम्न पंक्तियां कौंध जाती हैं -- " हदें न भायीं मुझे दुनियादारी की / मैं चाहता रंगे बहार , मैं चाहता गमे बहार । "[22] ऋषभजी का व्यक्तित्व भी कुछ इसी प्रकार का है ।

साहित्य-सर्जना : साहित्यदर्पणकार ने कवि-लेखक की प्रतिभा-शक्ति के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है —

"नरत्वं दुर्लभं लोके , विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र , शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।। " [23]

यहां आचार्य विश्वनाथ ने जिस प्रतिभा की बात की है , वह कवि के सन्दर्भ में है , किन्तु हम उसे लेखकों पर भी लागू कर सकते हैं । ऋषभजी एक ऐसे ही प्रतिभाशाली लेखक हैं । उनमें यह प्रतिभा जन्मजात स्वरूप में मिलती है । बैरिस्टर चम्पतरायजी के पारस-स्पर्श से उनकी प्रतिभा और भी चमक उठी । जब वे स्कूल में पढ़ते थे तभी से उनकी रचनाएं प्रकाशित होने लगी थीं । सन् 1925 में (तब वे केवल 14 वर्ष के थे) "महारथी" पत्रिका में उनकी प्रथम कहानी "मिट्टी के रुपये " प्रकाशित हुई थी । सन् 1926 में "राजकुमार भोज" प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष "भीषण डाकू " और "जादुई पुतली " नामक उनके दो जासूसी प्रकार के उपन्यास प्रकाशित हुए । प्रेमचन्दपूर्व-काल में बाबू गोपालराम गहमरी के कारण जासूसी उपन्यासों की एक परंपरा मिलती

है , उसीका प्रभाव यहाँ परिलक्षित हुआ है । परन्तु वे शीघ्र ही इस प्रभाव से मुक्त भी हो गये । उनके जन्मदाता पिता के संबंध से अनुज बंधु छुट्टनलालजी शहर के प्रसिद्ध कागज के व्यापारी लाला सरदारीमल के यहाँ गोद गए थे , अतः अग्रज-बंधु लाला श्रीरामजी उनके व्यापार को संभालते थे । फलतः कागज की तो कोई दिक्कत थी नहीं । अतः सोलह साल की छोटी अवस्था में ऋषभजी ने सन् 1927 में "हिन्दी पुस्तक कार्यालय " नामक एक प्रकाशन-संस्था की स्थापना की और यहीं से सर्वप्रथम उनका उपन्यास "पैसे का साथी " §1927§ प्रकाशित हुआ । वहीं से "दिल्ली का व्यभिचार" §1928§ , "मास्टर साहब" §1929§ , "वेश्यापुत्र " §1929§ जैसी औपन्यासिक कृतियों को प्रकाशित होने का लाभ मिला । सन् 1930 में प्रसिद्ध क्रांतिकारी उपन्यास "गदर" प्रकाशित हुआ । उसके क्रांतिकारी विद्रोही तेवरों के कारण यह रचना तब अंग्रेज-सरकार द्वारा जब्त हुई थी । उन्हीं दिनों में "सत्याग्रह" और "हड़ताल" जैसी गांधीवादी रचनाएं प्रकाशित हुईं । उनको भी जब्त किया गया । संक्षेप में ऋषभजी का प्रकाशित साहित्य नीचे दिया जा रहा है :—

मौलिक उपन्यास :

§1§ पैसे का साथी

§2§ मास्टर साहब

§3§वेश्यापुत्र

§4§ ग़दर

§5§सत्याग्रह

§6§ दिल्ली का व्यभिचार

§7§ हड़ताल

§8§ राजकुमार भोज

§9§ भाई

§10§ भाग्य

§11§ रहस्यमयी

§12§ दिल्ली का कलंक कलंक

§13§ दुराचार के अड्डे

§14§ चम्पाकली

§15§ मयखाना

§16§ बुर्दाफरोश §अब जनानी सवारियां नाम से प्रकाशित §

§17§ तीन इक्के

§18§ मन्दिरदीप

§19§ हिज़ हाइनेस

§20§ हर हाइनेस

§21§ हत्यारा §अपूर्ण §

§22§ पश्चिम § अपूर्ण §

§ब§ अनूदित रचनाएं :

§1§ कैदी

§2§ कण्ठहार

§3§ षड्यन्त्रकारी

§4§ वह कौन थी ?

§5§ महापाप

§6§ देवदूत

§7§ अफीम का अड्डा

§8§ दीप-शिखा §अपूर्ण§

§क§ कहानी-संग्रह :

§1§ चांदनी रात § अब "दान तथा अन्य कहानियां " नाम से प्रकाशित ।

§2§ बुर्केवाली

§3§ हड़ताल

§4§ बिखरे मोती

§5§ नर्क-धाम

§ड§ जासूसी उपन्यास :

§1§ भीषण डाकू

§2§ जादुई पुतली

§इ§ अन्य :

§1§ मानव धर्म प्रचारक §जीवनी§
§2§ विभिन्न धार्मिक तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों पर लगभग दो दर्जन ट्रेक्टस ।[24]

ऊपर उल्लिखित रचनाओं की सूची से ऋषभजी की बहुमुखी-प्रतिभा के दर्शन होते हैं । उनकी प्रतिभा अनेक आयामी थी और ज्ञान-विज्ञान के नाना क्षेत्रों का विहार करती थी ।

ऋषभजी का बहुआयामी व्यक्तित्व : ऋषभजी का व्यक्तित्व बहु-आयामी था , यह तो अनेक बार निर्दिष्ट किया जा चुका है । उनके व्यक्तित्व के कई आयामों में निम्नलिखित मुख्य हैं :- §1§ लेखक §2§ पत्रकारिता §3§ मुद्रक एवं प्रकाशक §4§ फिल्म-वितरक तथा §5§ चिंतक । यहाँ संक्षेप में इन पर विचार किया जायेगा ।

§1§ लेखक : ऋषभजी मूलतः एक लेखक हैं , यह तो उनके पुस्तकों की जो लम्बी सूची ऊपर प्रस्तुत की गई है , उससे ही असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाता है । परन्तु उनके इस लेखकीय व्यक्तित्व के भी कई पहलू हैं । इसे हम मुख्यतः तीन रूपों में रख सकते हैं -- /1/ उपन्यासकार , /2/ कहानीकार तथा /3/ अनुवादक । ऋषभजी ने कई मौलिक उपन्यास दिए हैं । उनके उपन्यासों में हमें उच्चवर्गीय समाज की गंदगी और नग्नता के दर्शन होते हैं । "वेश्यापुत्र" , "दिल्ली का व्यभिचार" , " दुराचार के अड्डे " , "जनानी सवारियाँ" , "हिज हाइनेस " , "हर हाइनेस " , "मयखाना" , "तीन इक्के " , "चम्पाकली" जैसे उपन्यासों में हम इस प्रवृत्ति को लक्षित कर सकते हैं । उनके "गदर", "सत्याग्रह" तथा "हड़ताल" जैसे उपन्यासों में हमें तत्कालीन राजनीतिक हलचलों का चित्रण मिलता है । उनके "भाई" उपन्यास में हमें ग्रामीण जीवन का यथार्थवादी चित्रण उपलब्ध होता है । डा. सुरेशचन्द्र गुप्त इस उपन्यास की

भूमिका में लिखते हैं -- " हिन्दी के यथार्थवादी कथा-साहित्य के वे अग्रणी लेखक हैं । उग्र , नागार्जुन और रेणु इसी परंपरा की अगली कड़ी हैं । मानवीय सहानुभूति उनके लेखन की अनिवार्य शर्त है । फलस्वरूप पात्रों के मनोविश्लेषण पर उनकी गहरी पकड़ है । जीवन का कोई पक्ष उनकी रचना में अछूता नहीं रहा है । मानव की किसी संवेदना को उन्होंने ओझल नहीं होने दिया । उनके मनोविश्लेषण में जीवन की व्यावहारिकता है जिसे उन्होंने प्रेमचन्द से विरासत में प्राप्त किया था । बाद में जैनेन्द्र ,अज्ञेय , इलाचन्द्र जोशी ने इसकी एकेडेमिक बारीकियों को अपने कथा-साहित्य का विषय बनाया । "[25] उक्त तीनों प्रवृत्तियां उनकी कहानियों में भी दृष्टिगोचर होती हैं । उनके चार-पांच कहानी-संग्रह इस तथ्य के साक्ष्य हैं । इसके अतिरिक्त उनके लेखक का एक महत्वपूर्ण पहलू है अनुवादक रूप का । उन्होंने "कैदी" , "कण्ठहार" , "महापाप" , " देवदूत" जैसे कतिपय उपन्यासों के अनुवाद भी दिए हैं । उनसे अनूदित रचनाओं में भी उक्त रेखांकित तीन बातें मिलती हैं ।

§2§ पत्रकारिता : इस क्षेत्र में भी ऋषभजी की पहलकदमी को कोई नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता । सन् 1933 में उन्होंने "चित्रपट" नामक एक सिने-पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया । हिन्दी में इस प्रकार की यह पहली पत्रिका थी जिसमें सिनेमा और साहित्य से संबंधित लेख व आर्टिकल छपते थे । यह ध्यान रहे कि हिन्दी का बहुचर्चित एवं विवादास्पद उपन्यास "सुनीता" §जैनेन्द्र§ इसी पत्रिका में सन् 1934 में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था । "चित्रपट" अपने युग की एक अत्यन्त सफल व्यावसायिक पत्रिका थी । उसकी सफलता से उत्साहित होकर बाद में बाबू अजितप्रसाद जैन के सहयोग से उन्होंने "रूपबानी" निकाला । "रूपबानी" अंग्रेजी की पत्रिका थी और अपनी साजसज्जा में बेमिसाल थी । देशी रियासतों से संबंधित एक पत्रिका भी उन्होंने निकाली जिसका नाम था "सचित्र दरबार" । इसका प्रकाशन सन् 1935 में हुआ था । भू.पू. रेलमन्त्री श्री माधवराव के पिता जीवाजीराव सिंधिया भी बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव की भांति अपनी लोक-कल्याणी छवि के कारण प्रजा में बहुत ही प्रिय व सम्माननीय थे । उनके राज्यारोहण के अवसर पर "सचित्र दरबार" का एक विशेषांक प्रका-

शित किया गया था जिसे "ग्वालियर अंक " नाम दिया गया था । "ग्वालियर अंक " पत्रकारिता के जगत में आज भी एक मानक माना जाता है ।

§3§ मुद्रक एवं प्रकाशक : यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ऋषभजी हिन्दी के पहले लेखक हैं जिनका दिल्ली में अपना प्रेस था । जन्मदाता पिता के रिश्ते में उनके अग्रज श्री रामजी दिल्ली के प्रतिष्ठित कागज-व्यापारियों में थे , अतः कागज की किल्लत का कभी प्रश्न ही नहीं उठ सकता था । जब पत्रिकाओं तथा अन्य ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य बहुत बढ़ गया तो उन्होंने सन् 1934 में "रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस" नाम से एक प्रेस की स्थापना की । ऋषभजी बहुत ही परिश्रमी किस्म के व्यक्ति थे । रात-रात भर वे अपने प्रेस में बैठकर काम किया करते थे । यह भी पहले निर्दिष्ट हो चुका है कि सन् 1927 में केवल 16 वर्ष की छोटी आयु में ऋषभजी ने "हिन्दी पुस्तक कार्यालय " नाम से एक प्रकाशन संस्था का श्रीगणेश किया था । यहां से उनकी रचनाएं तो प्रकाशित हुई ही , अन्य कई लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित कर उन्हें हिन्दी जगत में स्थापित करने का एक महत् प्रेमचन्दीय कार्य भी उन्होंने संपन्न किया । जैनेन्द्रकुमार की सर्वप्रथम कृति "फांसी" §1929§ भी यहां से प्रकाशित हुई थी । प्रसिद्ध लेखक स्व. यशपाल की प्रसिद्ध व बहुचर्चित कृति "लेनिन और गांधी" भी यहीं से प्रकाशित की गई थी । इसके अतिरिक्त "रूस का पंचवर्षीय आयोजन " §यशपाल§ तथा चतुरसेन शास्त्री द्वारा प्रणीत "इस्लाम का विषवृक्ष " भी इसी प्रकाशन से छपे और अंग्रेज सत्ता के द्वारा जब्त हुए । ऋषभजी की "गदर" , " सत्याग्रह " , " हड़ताल" जैसी रचनाएं भी यहां से छपीं और जब्त हुईं । इससे उनके साहसी §कुछ हद तक दुस्साहसी§ स्वभाव को परिलक्षित किया जा सकता है । यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य हैं कि हिन्दी का प्रथम विश्वकोश "विश्व-विहार " यहां से प्रकाशित हुआ था । ऋषभजी के सुपुत्र श्री दिग्दर्शनचरण जैन §ज्ञानप्रकाशजी§ आज भी अपने इस पैतृक व्यवसाय को "ऋषभचरण जैन एवं संतति" के रूप में बड़ी ही कुशलता एवं निपुणता से संभाले हुए हैं तथा आज भी हिन्दी के कई महत्वपूर्ण शोध-प्रबंध वहां से प्रकाशित होते रहते हैं ।

§4§ फिल्म-वितरक : "चित्रपट" सिने-साप्ताहिक के कारण ऋषभजी का संबंध फिल्म जगत के अनेक लोगों से हुआ जिनमें फिल्म-निर्माता और फिल्म-वितरक भी होते थे । अतः यह स्वाभाविक ही कहा जायेगा कि वे फिल्म-वितरण के व्यवसाय की ओर आकर्षित हों । सन् 1942 में उन्होंने फिल्म-वितरण का व्यवसाय प्रारंभ किया । साहित्यिक फिल्म-निर्माता किशोर साहू ने उन दिनों एक फिल्म बनाई थी -- " राजा " । ऋषभजी ने अपने फिल्म-वितरण के कार्य का आरंभ "राजा" से किया । "राजा" के पश्चात् मुमताज शांति की फिल्म "बदलती दुनिया" के वितरण-अधिकार प्राप्त किये । इस फिल्म से उन्होंने बेशुमार दौलत हासिल की । इसका परिणाम यह हुआ कि ऋषभजी ने अति उत्साह में आकर अपने प्रकाशन के व्यवसाय को कौड़ियों के मोल बेच दिया और दिल्ली के अतिरिक्त लाहौर , करांची , बम्बई आदि स्थानों पर भी फिल्म-वितरण की शाखाएं खोल दीं । सन् 1945 में "पराया धन " नामक फिल्म बुरी तरह से असफल रही जिसके कारण उन्हें काफी नुकसान उठाना पड़ा । यहां से उनके आर्थिक पतन का प्रारंभ हो गया । सन् 1947 में भारत स्वाधीन हुआ , परन्तु उसे विभाजन की विभीषिका से गुजरना पड़ा । यह विभीषिका ऋषभजी को भी झेलनी पड़ी । इसके कारण उनकी लाहौर और करांची की शाखाएं उनके हाथ से चली गयीं , इतना ही नहीं वहां की सारी उगाही भी डूब गई । विभाजन के बाद के दंगों में दो-दो बार उनके गोदामों में आग लगी जिसके कारण उन्हें बेशुमार हानि हुई । वे कर्ज के समंदर में डूब गये । इस पर फाइनान्सरों ने मुकदमा किया । इस मुकदमेबाज़ी में सबकुछ स्वाहा हो गया । रूपये-रूपये के लिए वे दूसरों के मोहताज हो गये । इनका कोमल हृदय भला इन आघातों को कैसे बरदाश्त कर पाता ? अतः सन् 1949 से वे विक्षिप्त होकर घूमने लगे । सन् 1964 में भारत सरकार की सहायता से उन्हें रांची के मानसिक-चिकित्सालय में भेजा गया । वहां रहकर वे कुछ ठीक भी हुए , परंतु पहले वाले ऋषभजी की वापसी फिर कभी नहीं हुई ।[26] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उनकी तबाही के मूल में यह फिल्मी व्यवसाय ही रहा है । न वे उस लाइन में जाते न ये दिन देखने पड़ते । कर्म को ही यदि "धर्म" मान लें तो गीता की यह उक्ति ऋषभजी के जीवन पर पूर्णतया लागू होती है कि

"परधर्मो भयावह " । सचमुच में यह "परधर्म" उनके लिए भयावह ही साबित हुआ ।

§5§ चिन्तक : वैसे तो प्रत्येक महान लेखक या स्तरीय लेखक § यहां लेखक से हमारा अभिप्राय उपन्यासकार से है § एक चिन्तक भी होता है और उसका यह चिंतन उसकी रचनाओं में शरीर में लावण्य की मानिंद परिव्याप्त रहता है , परन्तु शुभ्रजी ने उपन्यासों के बाहर भी स्वतंत्र पुस्तकों वा पुस्तिकाओं में अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया है । सन् 1942 में उन्होंने सब वादों और धार्मिक मत-मतांतरों से किनारा कर "मानव-धर्म" के रूप में सांस्कृतिक आंदोलन छेड़ दिया । इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है -- " मैं स्वतंत्र हूं । मैं मनुष्य हूं । मैं एक महान जाति का सदस्य हूं । मेरे संकल्प सदा महान होते हैं । मैं किसीसे अनुचित लाभ नहीं उठाता और कोई मेरे से अनुचित लाभ न उठावें । मैं अपने प्रति अपना कर्तव्य पालन करता हूं । मैं मन , वचन , कर्म से मनुष्य जाति की सेवा करना चाहता हूं । मैं मद्य को अपेय समझता हूं । जात-पात का कायल नहीं हूं । मैं मनुष्य हूं , फिर भारतीय , फिर हिन्दू और उसके बाद ... " [27] इस सन्दर्भ में उन्होंने और भी कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं -- "अखिल विश्व की सुख शांति का उपाय " , " मानव-धर्म के दस मूल मंत्र " , "जैन धर्म पर मेरे विचार " , " बौद्ध धर्म पर मेरे विचार " , " इस्लाम पर मेरे विचार " , " सिक्ख पंथ पर मेरे विचार " , "वेदान्त पर मेरे विचार " , " आर्यसमाज पर मेरे विचार " , "इसाइयत पर मेरे विचार " , "फासिज्म पर मेरे विचार " , "मानव धर्म के प्रचारक ईसा " , "आधुनिक धार्मिक प्रगतियां और वाणिज्य कर्मयोग " आदि आदि । इस सन्दर्भ में उनकी "आखिरी किताब" है -- " मानव धर्म प्रचारक " -- जो सन् 1944 में प्रकाशित हुई थी और जिसमें राम , कृष्ण , बुद्ध , महावीर , अशोक और मुहम्मद पैगंबर आदि महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं और इसके नवनीत रूप में उन्होंने यही स्थापित किया है कि मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है । मनुष्य को छोड़का ईश्वर के पीछे भागना निरी मूर्खता है । उक्त रचनाओं से हमें लेखक के व्यापक चिंतन का पता चलता है ।

इससे लेखक के विस्तृत अध्ययन का भी हमें ज्ञान हो सकता है । उनके द्वारा उद्बोधित यह मानव धर्म मानव-अवस्था की इस ह्रासोन्मुखी स्थिति में भी मनुष्य को उदार , पुष्ट , दृढ़ , पवित्र , निर्मल , महान और कर्मठ बनाने की प्रेरणा देता है । इससे मनुष्य का मन इतना निर्मल हो सकता है कि वही कबीर वाली उक्ति सत्य प्रमाणित हो सकती है कि "पाछे पाछे हरि चले कहत कबीर कबीर ! "

इस मानव-धर्म के मूल मंत्रों की चर्चा करते हुए ऋषभजी निष्कर्ष रूप में कहते हैं -- " मानव धर्म संसार के निर्बल मनुष्यों को सबल मनुष्यों के आदर्शों की ओर जाने की प्रेरणा देता है और उसका एक मात्र उद्देश्य यह है कि सबल मनुष्यों और उनके भाग्य-विधाताओं की जो आत्माएं मद्य-पान की लत के कारण गलत रास्ते पर पड़ गई है , उन्हें सही रास्ते पर लाकर और कमजोर आदमियों को सबल बनाकर अखिल मानव-जाति में वास्तविक साम्यता उत्पन्न की जाय । "[28] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि "सामाजिक न्याय " की जो मुहिम इस समय चल रही है , कुछ इसी प्रकार के विचार ऋषभजी के उक्त मानव-धर्म में भी प्रबोधित हुए हैं ।

संघर्षमय जीवन : अज्ञेयजी का एक कथन है -- " दुःख मनुष्य को मांजता है । " गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है "" धीरज , धर्म , मित्र अरु नारी आपदकाल परखिये चारि ।" आपत्काल में ही इनकी परीक्षा होती है । जिसने संघर्ष नहीं किया , यातना नहीं देखी , वह जीवन के एक बहुत बड़े अनुभव से वंचित रह गया । वस्तुतः लेखक या कवियों को वाणी का जो वरदान मिलता है या मिला है , उसके पीछे भी वेदना- का कोई न कोई स्रोत अवश्य होता है । तभी तो कहा गया है -- " मिले थे गम कई तो फिर यारो हम संभल बैठे ; मिली होतीं अगर खुशियां कितने बेजुबां होते । "[29] यदि हम विश्व के इतिहास पर एक निगाह डालें तो ज्ञात होगा कि संसार में जितने भी महान पुरुष हुए हैं , उनकी यह सफलता-यात्रा यातना-यात्रा रही है । उन्हें यह सफलता सहज ही प्राप्त नहीं हुई है । पर संघर्ष और यातना के दौर से उन्हें गुजरना पड़ा है । बल्कि उनकी निष्फलताएं ही अन्ततः उन्हें सफलता के चरम शिखर

तक पहुंचाती हैं । गुजराती के प्रसिद्ध कवि स्व. उमाशंकर जोशीजी की एक काव्य-पंक्ति है — " मने मळी निष्फळताओ अनेक , तेथी थयो सफळ हुं कंइक जिन्दगीमां " — अर्थात् मुझे अनेक असफलताएं मिलीं , शायद इसीलिए मैं ज़िन्दगी में थोड़ा-बहुत सफल हो सका । हिन्दी के एक लेखक बाबू गुलाबराय ने तो अपनी आत्मकथा का नाम ही रख दिया है — "मेरी असफलताएं" ।[30]

सर विन्स्टन चर्चिल की राजनीतिक कारकिर्दी सभी जानते हैं । 60 वर्ष की आयु तक उनकी जिन्दगी असफलताओं की एक लगातार हारमाला (हार /?/ माला) -सी प्रतीत होती है । महत्वाकांक्षा अदम्य थी । कुछ मिलता और फिर तुरंत लुप्त हो जाता । ऊपर से अपयश मिलता । चर्चिल मानते थे कि वे खूब ही काबिल व लायक इन्सान हैं , इसीलिए उसके पक्ष के नेता जान-बूझकर उसे कोई अग्रिम स्थान नहीं दे रहे और बाइरादा उसकी घोर उपेक्षा कर रहे हैं । इस प्रकार चर्चिल अपने पक्ष के कर्णधारों को धिक्कार की निगाह से देखता रहा और अन्ततः वह बहुवांछित प्रधान-मंत्रीत्व का पद जब उसके सामने आकर खड़ा रहा , तब वह केवल न आनंदविभोर हुआ , बल्कि उसने यह भी अनुभव किया कि भूतकाल में उसने जिन-जिन स्थानों की खेवना की थीं वे यदि प्राप्त हुए होते तो क्या वे इस पद को प्राप्त कर सकते थे ?[31] "निरमा" डिटरजन्ट पावडर के मालिक को यदि यथेष्ट तनख्वाह मिलती और उसमें उनका गुजारा भलीभांति हो जाता तो आज वे एक प्रतिष्ठित औद्योगिक संस्थान के स्वामी न बन पाते ।[32]

अभिप्राय यह कि जिन्दगी में वे ही लोग कुछ कर पाये हैं जिन्होंने संघर्षशीलता को एक तीर्थयात्रा का दर्जा दिया है । जो लगातार तूफानों से जूझते रहे हैं । एक और बात यहां गौरतलब होगी कि ऐसे ही लोगों ने इतिहास का निर्माण किया है । बहुत व्यवहारपटु या सांसारिक कहे जाने वाले लोगों ने पैसे बनाये , बच्चे पैदा किये , पर इस संसार को आगे बढ़ाने का काम तो उन चन्द लोगों ने ही किया है जिनको ये व्याव-हारिक लोग पागल या मूर्ख समझते रहे हैं । माहवार हजार रूपयों (उन दिनों में ?) को ठोकर मारकर बम्बई से बनारस का टिकट कटवाने प्रेम-चन्द को दुनिया क्या कहेगी ? सरकारी नौकरी को लात मारकर "सरस्वती"

पत्रिका का संपादन-भार संभालने वाले पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को ये लोग क्या कहेंगे ? हिन्दी साहित्य के उन्नयन में अपनी समूची संपत्ति फूंक देने वाले भारतेन्दुजी को ये संसारी लोग क्या कहेंगे ? ये तो कहेंगे कि घर फूंककर तिरथ नहीं किया जा सकता । पर इन लोगों ने तो यही किया । ऐसे लोग संसार में कभी ज्यादा नहीं होते , पर होते जरूर हैं , और होते हैं तभी यह दुनिया चल रही है । ऋषभजी के पास भी बापदादों की अतुल संपत्ति थी और वे भी बनिये बनकर व्यवसाय को संभालने बैठ जाते तो संपत्ति तो बेशुमार कमाते पर तब ऋषभजी ऋषभजी न होते , न उन पर यह कार्य करने की नौबत आती । ऋषभजी ने भी अपनी बुद्धि-प्रतिभा से खूब कमाया पर उड़ाया भी खूब , प्रयोग भी कई किये और जिन्दगी को हमेशा प्रयोगों की और ऐसे प्रयोगवीरों की आवश्यकता रही है । "त्यागपत्र" उपन्यास में मृणाल एक स्थान पर प्रमोद से कहती है -- " प्रमोद , यह बात तो ठीक है कि सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है ; लेकिन उन प्रयोगों में उन्हीं को पड़ना और डालना चाहिए कि जिनकी जान की अधिक समाज-दर नहीं रह गई है -- " [33] और उसी संदर्भ में प्रमोद बादमें सोचते हुआ कहता है -- " मैं अण्डरग्रेजुएट उनकी कुछ भी बात नहीं समझ सका । आज वे बातें मुझे याद आती हैं और निश्चय हो गया है कि सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता , वह ज्ञान आत्म-व्यथा में मिल जाता है । "[34] परन्तु इस आत्म-व्यथा की यात्रा आखिर करेगा कौन ? व्यावहारिक लोग ? नहीं , बिल्कुल नहीं । ऋषभजी जैसे साहसवीर , संघर्षवीर , जिन्दगी में नये-नये प्रयोग करने वाले । गुजराती के प्रसिद्ध कवि वाडीलाल डगली की काव्य-पंक्तियां हैं -- " तूफानोंनी एणे खबर होय क्यांथी ? तरे नाव जेनुं किनारे-किनारे ? " अर्थात् वह व्यक्ति तूफानों के बारे में क्या बतायेगा जिसने फकत अपनी नाव किनारे-किनारे ही चलाई है । ऋषभजी का जीवन संघर्ष और प्रयोगों की यात्रा है , फलतः उनके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आए हैं ।

हिन्दी के कवि अंचलजी की एक काव्य-पंक्ति है — " फूल काँटों में खिला था / सेज पर मुरझा गया । " ऋषभजी के क्ष्यक्तित्व का पुष्प भी संकटों के कंटकों में खिला है । जिस प्रकार कंचन की परीक्षा अग्नि में होती है , ठीक उसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व का कंचन भी संघर्षाग्नि में ही निखरता है । ऋषभजी इस निकष पर खरे उतरते हैं । वे स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं । विकट वेदनाओं , आर्थिक संकटों एवं पारिवारिक कलहों के कलुषित वातावरण में भी उन्होंने अपनी लेखकीय आस्था को बरकरार रखा है । पितामह बैरिस्टर चम्पतराय की सब पर बड़ी धाक थी । एक तरह से ऋषभजी की जवानी उनके कठोर अनुशासन के आतंक में गुजरी है । प्यार का अभाव उन्हें हमेशा कसकता रहा । परन्तु इसी प्यार के अभाव ने उन्हें कर्मनिष्ठ व आत्मनिर्भर बनाया । किसीके सामने झुकना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था । पितामह चम्पतराय की मृत्यु सन् 1942 में हुई । लेकिन उनके अंतिम दिनों में ऋषभजी की उनसे अनबन हो गई थी । इस अनबन के मूल में दादाजी चम्पतराय की अंग्रेज सेक्रेटरी लेडी मिस फ्रेजर थीं । अतः मृत्यु से पहले ही उन्होंने अपनी अधिकांश संपत्ति बेच दी थी और शेष का एक ट्रस्ट बना दिया था । दादाजी ने अपनी वसीयत में ऋषभजी के लिए कुछ भी नहीं छोड़ा था , फलतः वे पैसे-पैसे के लिए दूसरों के मोहताज हो गये । अतः अधिक धनोपार्जन के लिए उन्होंने फिल्म के क्षेत्र को अपनाया । उनका एक मित्र दरीबे में कपड़े का काम करता था । उससे सात रूपये लेकर उन्होंने "चित्रपट" नामक सिने-पत्रिका के प्रकाशन का कार्य शुरू किया और अपनी सूझबूझ तथा प्रतिभा-शक्ति के बल पर पुनः खड़े हो गये ।[35]

इस संदर्भ में जैनेन्द्रजी लिखते हैं — " जहां से ऋषभजी ने आरंभ किया , वहां उनके पास कोई आधार नहीं था , अपने अकेले बाहुबल से उन्होंने आर्थिक , सांसारिक तथा साहित्यिक सफलता प्राप्त की । "[36] "चित्रपट" की सफलता से उत्प्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजी सिने-पत्रिका "रूपबानी" का प्रकाशन शुरू किया । दादाजी की मृत्यु के उपरांत सन् 1942 से उन्होंने फिल्म-वितरण के व्यवसाय में पदार्पण किया और किशोर

साहू की प्रसिद्ध फिल्म " राजा" से उसका श्रीगणेश किया । इसके पश्चात् मुमताज शांति की फिल्म " बदलती दुनिया" के वितरण-अधिकार बरामद किए । " बदलती दुनिया" ने उनके भाग्य को बदल दिया और उससे उन्होंने बेशुमार दौलत हासिल की । इसके कारण उनका हौसला काफी बढ़ गया और उन्होंने दिल्ली के उपरांत लाहौर, करांची , बम्बई आदि शहरों में अपनी वितरण-शाखाएं स्थापित की । परन्तु यहां उनसे एक बड़ी चूक हो गई । उन्होंने इस फिल्म-वितरण के अति-उत्साह में अपने जमे-जमाये प्रकाशन और मुद्रण व्यवसाय को ठोकर मार दी और उसे कौड़ियों के मोल रफे-दफे कर दिया । बादमें इसका उन्हें बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा । "परधर्मो भयावह" वाली गीता-प्रबोधित उक्ति भी यहां सचमुच में ही चरितार्थ हुई ।

सन् 1945 में "पराया धन " नामक फिल्म बुरी तरह से असफल हुई और उन्हें काफी घाटा हुआ । यहीं से उनके आर्थिक-पतन की शुरूआत हुई । सन् 1947 का भारत-पाकिस्तान विभाजन उनके लिए नागवार गुजरा । लाहौर और करांची की शाखाएं उनके हाथ से निकल गईं । सारी उबाही डूब गई । कहा जाता है कि विपत्ति कनखजूरे की भांति सौ-सौ पैरों चलकर आती है । दिल्ली में दंगे हुए । दंगों के दौरान दो बार उनके गोदामों में आग लगायी गई । सबकुछ स्वाहा हो गया । रही-सही कसर फाइनान्सरों ने पूरी की । रूपयों की वसूली के लिए मुकदमे ठोक दिए । इस मुकदमेबाजी में रही-सही संपत्ति भी चली गई । साथी-संगी कतरा गए । ऋषभजी का कोमल मन इन आघातों को कैसे बर्दाश्त कर लेता ? अतः सन् 1949 से वे विक्षिप्त अवस्था में घूमते रहे । सन् 1964 में भारत सरकार की आर्थिक सहायता से उन्हें रांची की मानसिक आरोग्यशाला में भेजा गया । वहां वे कुछ ठीक भी हुए , परन्तु वह मानसिक संतुलन व शक्ति वे पुनः अर्जित नहीं कर सके । सन् 1967 से घर पर आ गए । परन्तु वह प्रतिभाशाली व्यक्तित्व अब लुप्त हो गया था । उनकी साहित्यिक सेवाओं को

ध्यान में लेते हुए दिल्ली की हिन्दी अकादमी ने उन्हें 3100/= रूपये की राशि से सम्मानित व पुरस्कृत भी किया सन् 1984 में । वैसे तो वे अस्वस्थ ही रहने लगे थे , किन्तु जनवरी सन् 1985 से उनका स्वास्थ्य बहुत गिरने लगा था और अन्ततः 7 अगस्त सन् 1985 को मध्याह्न में उन्होंने इस क्षर देह का त्याग कर महाप्रयाण कर दिया ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋषभजी का जीवन काफी संघर्षपूर्ण रहा है कि जिसे देखते हुए एक शेर स्मृति में कौंध जाता है --

" इस तरह तय की हैं हमने मंज़िलें
चल दिये, चलकर गिरे, गिरकर चले "

क्या ही अच्छा होता यदि उस अंतिम गिरावट के पूर्व वे एकबार थोड़े संभल जाते । तो उनके उन अंतिम दिनों के संघर्ष की कुछ उज्ज्वल गाथाएं हिन्दी साहित्य को मिलती ।

ऋषभजी के व्यक्तित्व के कुछ अन्य पहलू : ऋषभजी का व्यक्तित्व एक भरे-पूरे व्यक्ति का व्यक्तित्व है । रईसी और खानदानी उनके व्यक्तित्व की एक खास पहचान है । वे शौकीन तबीयत तथा रसिक व्यक्ति थे । चरित्र-विषयक विचार भी उनके औरों से अलग थे । वे मनुष्य को उसकी समग्रता में और अतएव उसके चरित्र को भी उसकी समग्रता में देखने-परखने के पक्षपाती रहे हैं ।[37] उनकी पत्नी पंजाब के सीधे-सादे वातावरण से आई थीं , अतः वे उनके रसिकतापूर्ण वयक्तित्व के अनुरूप स्वयं को ढाल न सकीं । व्यक्तिगत मुलाकात के दौरान अनुसंधित्सु इस तथ्य से अवगत हुई कि उन्हें एक रखैल भी थी और जिसका "सौतिया डाह" उन्हें हमेशा रहा ।[38] वेशभूषा के विषय में भी वे अत्यंत शौकीन और आधुनिक थे । बढ़िया काला बन्द गले का कोट तथा चीनी पम्प शू उनके ठाट-बाट को और भी बढ़ा देते थे । उनके समकालीन श्री. गोविन्द सहाय आज भी उनके उन दिनों के ठाट-बाट की जुगाली करते हुए बताते हैं कि वे कभी अपने पैण्ट की क्रीज़ खराब नहीं होने देते थे । समाज तथा मित्रों में उनका दबदबा भी काफ़ी था । बादमें गांधीवादी प्रभाव के कारण पोशाक में कुछ सादगी आयी , परन्तु सफाई, शालीनता व सुरुचि वैसी ही बनी रही ।

अपने पारिवारिक जीवन में वे समय और अनुशासन के पक्के हिमायती थे । बच्चों को प्यार बहुत करते थे । उन्हें मारना-पीटना भी पसंद नहीं करते थे । परन्तु किसी भी प्रकार की बदतमीजी उन्हें बरदाश्त नहीं थी । घर के नीचे ही प्रेस था , परन्तु वहां बच्चों के प्रवेश के लिए निषेध था । वे समय-असमय वहां नहीं जा सकते थे । उन पर ऋषभजी का पूरा नियंत्रण था । अनुशासन के विषय में वे कठोर थे और बच्चे उनसे डरते थे ।[39] बाहरी लोगों से उनका व्यवहार सरकारी अफसरों जैसा रूआबदार व कड़क रहता था । बहुत थोड़े शब्दों में संक्षिप्त बातचीत । पर मित्रों में वे उतने ही खुलते और खिलते थे ।

कर्मठता और परिश्रमशीलता उनके व्यक्तित्व के अभिन्न पहलू हैं । रात-रात भर बैठकर प्रेस में काम करना उनके लिए सहज था । उनकी इस कर्मठता की तुलना हम प्रेमचन्द से कर सकते थे× हैं । इस संदर्भ में उनकी पत्नी शांतिदेवीजी बताती हैं -- "लिखते-लिखते उंगलियों पर छाले पड़ जाते थे । लिखते समय अपना कमरा बन्द कर लेते थे । अपना हर काम नियम तथा समय से करते थे । सप्ताह में एक बार मौन-व्रत भी रखते थे । "[40]

अटूट साहस भी उनके व्यक्तित्व का एक आयाम है । इसके रहते ही उन्होंने अनेक प्रकार के व्यवसायों में पदार्पण किया । लेखक तो वे थे ही । उसके साथ प्रकाशक और मुद्रक का काम भी संभाला । धर्मपिता ने जब उनकी संपत्ति से बेदखल कर दिया तब हिम्मत हारने के स्थान पर फिल्म-वितरण के काम में लग गये । "चित्रपट" का संपादन किया । "रूपबानी" निकाला । दिल्ली के अतिरिक्त बम्बई , लाहौर , करांची जैसे शहरों में फिल्म-वितरण की आफिसें खोलीं । यह सब उनके साहस का परिणाम है । वे बहुत जल्दी निर्णय ले लेते थे और फिर उसमें प्राण-पण से जुट जाते थे , परन्तु उनका यही गुण उनके पतन का कारण भी बना । फिल्म में आये तो प्रकाशन-मुद्रण के जमे-जमाये व्यवसाय को आनन-फानन में बिखेर दिया । फलतः जब उसमें भारी घाटा खाया तो उनके पैरों के नीचे की जमीन ही सरक गई ।इस पर लोगों की नालिशियाँ । वे पूरी तरह टूट गये ।

गांधीवाद का प्रभाव : यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ऋषभजी बड़े शौकीन तबीयत व्यक्ति थे और उनके शौक तथा ढंग रईसाना थे । वैभव-विलास उनके व्यक्तित्व का एक पहलू बन चुका था , परन्तु ऋषभजी प्रेमचन्द युग के लेखक हैं और क्या कोई भी प्रेमचन्दयुगीन लेखक महात्मा गांधी के चुंबकीय व्यक्तित्व से अछूता रह सका है ? उस युग-निर्णायक व्यक्तित्व ने ऋषभजी को भी प्रभावित किया । उनके "भाई" तथा "सत्याग्रह" आदि उपन्यास तथा "दान" जैसी कहानियों पर गांधीयुग का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित हो रहा है । इसके कारण उनके रहन-सहन तथा पहिनावे पर भी असर हुआ है । जो ऋषभचरण पैण्ट की क्रीज भी नहीं खराब होने देते थे तथा बन्द गले का कोट तथा वाइनिज पम्प शू के बिना बाहर नहीं निकलते थे अब वे धोती-कुर्ता में आ गये । सिल्कन कुर्ता तथा धोती और ऊपर से शाल ओढ़ लेते थे । पैरों में चप्पल तथा सिर पर गांधी-टोपी । बिल्कुल साहित्यकारों सा पहनावा हो गया था । बाद में मानव-धर्म की ओर इनका झुकाव हुआ उसके मूल में भी यही गांधीवादी प्रभाव दृष्टिगत होता है ।

ऋषभजी और समाज-सुधार की प्रवृत्ति : ऋषभजी का समाज-सुधारक रूप हम उनके उपन्यासों तथा लेखों में देख सकते हैं । प्रत्येक युग के सामाजिक उपन्यासों का वर्ण्य विषय अपनी युगानुरूप समस्याओं , चिंतन तथा आदर्शों पर आधृत होते हैं । उपन्यासकार अपने उपन्यासों के द्वारा ही समाज-सुधार की प्रवृत्ति को चलाता है । ऋषभजी के पूर्व पुनर्जागरणकाल में समाज-सुधार की एक निश्चित भूमिका तैयार हो चुकी थी । आर्यसमाज , प्रार्थनासमाज, ब्रह्मोसमाज जैसे आंदोलनों ने हमें अतीत को देखने की एक दृष्टि प्रदान की थी । हमारा अतीत और परंपरा सुदीर्घ है । अतः हमारी समस्याएं भी अपेक्षाकृत अधिक जटिल हैं । हमारे चिंतकों के सामने एक विराट समस्या मुंहबाये खड़ी है कि इतनी बड़ी सुदीर्घ परंपरा तथा इतिहास में से क्या तो ग्रहण करें और किसे परित्याज्य मानें ? उन्हें चयन-धर्मिता का अनुसरण करना ही होगा और यही राजा राममोहन राय , ईश्वर-

चन्द्र विद्यासागर तथा बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि ने किया । भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदीयुग में हमें यही सुधारवादी प्रवृत्ति मिलती है , परन्तु उसका चरम उत्कर्ष प्रेमचन्दयुग में मिलता है । प्रेमचन्दजी के युग-निर्माता व्यक्तित्व के कारण सुधारवादी आंदोलन को विशेष सफलता प्राप्त हुई । प्रेमचन्द की चयनधर्मी दृष्टि ने भी देख ~~xxx~~ लिया था कि समाज में जो अच्छा है , जो उसके विकास में बाधक नहीं बल्कि साधक है , उसका तो विकास हो ; परन्तु जो घृणित , त्याज्य और विकासावरोधक है,उसे जड़समेत उखाड़-फेंक दिया जाय ।

प्रेमचन्द के प्रभाव के कारण यह प्रवृत्ति ~~xxx~~जी में भी दृष्टिगोचर होती है । अपनी युगीन समस्याओं के निरूपण के लिए वे यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं और बड़ी ईमानदार तथा निर्ममता से वे समाज की कुरीतियों को बेपर्द करते हैं । वे समाज की नग्नता को उसके मूल बीभत्स रूप में चित्रित करते हैं ताकि समाज के चिन्तनधर्मी लोग उसकी रूग्णता को परखें और उसके यथेष्ट इलाज के लिए सामने आवें । "भाई" , "रहस्यमयी" , "भाग्य" , " मन्दिरदीप" , "जनानी सवारियां" , "तीन इक्के" , "मयखाना" , "हिज हाईनेस" प्रभृति उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों तथा व्यभिचार को उसके नग्न रूप में उधेड़कर रख दिया है । प्रेमचन्दजी की भांति उन्होंने अनेक सामाजिक तथा साम्प्रदायिक समस्याओं को उठाया है जिनमें दहेजप्रथा, अनमेल-ब्याह, विधवा-समस्या, वेश्या-समस्या, अवैध प्रेम की समस्या, बाल-संरक्षण की समस्या, जुआ-मद्यपान आदि दुर्व्यसनों की समस्या, अन्ध-विश्वास और रूढ़िवाद से उत्पन्न समस्याएँ , हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य की समस्या , अँग्रेजों द्वारा भारत की जनता के शोषण की समस्या, जमींदारों-राजा महाराजों-महाजनों-अधिकारियों द्वारा हो रहे आम लोगों के सुख-चैन के शोषण की समस्या आदि मुख्य हैं । वेश्या-जीवन की नारकीयता उन्हें सर्वाधिक रूप से उद्वेलित करती रही है , अतः वे एक तरह से वेश्याओं के पक्षधर से हो जाते हैं और उनके पुनर्निवास तथा पुनर्विवाह के पक्षपाती हो जाते हैं । सन् 1936 में चित्रपट में प्रकाशित एक लेख में श्री कुमुदविद्यालंकार

जी इस सन्दर्भ में लिखते हैं -- " ऋषभजी ने समाज का ध्यान वेश्याओं के विभिन्न स्थानों और अड्डों की ओर खींचते हुए बतलाया कि वेश्याएं समाज के लिए घातक हैं , इनके द्वारा न केवल धन ही वरन् स्वास्थ्य , सौन्दर्य , चरित्र-मर्यादा , स्वाभिमान और जीवन सभी कुछ नष्ट हो रहा है । ऋषभजी ने हजारों व्यक्तियों को इस कुकृत्य की बलिवेदी पर तड़पते देखा था । उन्होंने समाज-कल्याण के लिए इस वेश्यावृत्ति को जड़ से उखाड़ने का भरसक प्रयत्न किया । इस समस्या के मूल कारणों की ओर समाज और सरकार की दृष्टि को भी आकृष्ट किया । ऋषभजी के प्रयत्नों के फल-स्वरूप सरकार की ओर से वेश्याओं के नगर-निर्वासन और बहिष्कार का कानून पास हुआ । ' चावड़ी बाजार ' तो बन्द ही हो गया था । ऋषभजी का सरकार के इस कानून से मतभेद था । ऋषभजी तो चाहते थे कि इस विषैली प्रथा की जड़ पर आघात करें , निरपराधिनी वेश्याओं के गले पर कुठाराघात न करें । समकालीन लेखकों ने भी ऋषभजी के विचार का समर्थन किया । वे भी चाहते थे कि वेश्याएं भी कुछ सुधारों के साथ समाज का अंग मानी जाए । उनके विचार में इस प्रथा को जड़ से उखाड़ने के लिए अपने धन की गरिमा की , मान-प्रतिष्ठा के मद में चूर अहंकारी और उच्छृंखल वर्ग की , समाज को मदद आवश्यक है । " 5। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋषभजी ने समाज की कुरूपता का , उसके कोढ़ का विरूप , विकृत और नग्न स्वरूप चित्रित करके उसके द्वारा लोगों को उससे विमुख करने का एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । उनकी इस प्रवृत्ति के मूल में उनका वही समाज-सुधारक रूप ही कारणभूत रहा होगा ।

मानव-धर्म के व्याख्याता : धर्म वस्तुतः बेहतर मनुष्य की सृष्टि के लिए है । गुजराती के कवि उमाशंकर की एक काव्य-पंक्ति है -- " हूं मानवी मानव थाऊं तो घणुं । " अर्थात् मैं यदि सच्चा मनुष्य ही बन सकूं तो यह बहुत बड़ी बात है । तो प्रश्न होगा क्या मनुष्य मनुष्य नहीं है ? हां , मनुष्य अब सच्चा मनुष्य नहीं रहा है । अस्तु , धर्म का मूल कार्य ही यही है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनावे । परन्तु व्यवहार में तो यही देखा गया है कि मनुष्य

धर्म को लेकर ही अधिक बर्बर होता गया है । धर्म के नाम पर ही सर्वाधिक खून बहा है । ऐसा क्यों हुआ ? धर्म के मूल स्वरूप को , उसके मूल उद्देश्य को भलीभांति न समझने के कारण । वस्तुतः हम जिसे धर्म कहते हैं , वह सही धर्म न होकर "छद्म-धर्म" ﴾ स्यूडो-रीलिजियन ﴿ है । हमने अपनी सुविधा के लिए , अपने हित के लिए धर्म और कर्म को अलग कर दिया है । उसे दोखानों में विभाजित कर दिया -- यह धर्म और यह कर्म । वस्तुतः धर्म और कर्म अलग हो ही नहीं सकते । हमारा प्रत्येक कर्म धर्ममय होना चाहिए । ऐसा तो संभव नहीं कि एक तरफ हम धर्म का पालन भी करें और दूसरी तरफ हम पापाचार , कदाचार और भ्रष्टाचार में लिप्त भी रहें । अतः धार्मिक व्यक्ति को मूलतः शुद्ध रहना है , पवित्र रहना है , प्रामाणिक रहना है ,सत्यनिष्ठ होना है । परन्तु हमारे यहां तो उसका विलोम पाया जाता है । प्रायः धार्मिक कहा जाने वाला व्यक्ति अशुद्ध , अपवित्र , अप्रामाणिक और झूठा-बेइमान होता है । ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिए हुआ कि झूठे , बेइमान , लुच्चे पोंगा-पंडितों तथा कठमुल्ला-ओं ने जीवन की समग्रता को , उसकी अखंडता को दो खानों में विभाजित कर दिया । उसे खंडित कर दिया । यह तो धर्म है और यह कर्म है । अर्थात् धर्म के नाम पर कुछ करके फिर आपको कुछ भी करने की छूट है । फलतः उन्होंने धर्म को बाह्य विधि-विधानों में आबद्ध कर दिया । बाह्य विधि-विधान भी आवश्यक होंगे , पर वह तो राह है , मंजिल नहीं । पर लोग उसको ही धर्म मानने लगे । धर्म के मूल में तो करुणा , माया , ममता , दया , कृपा , मानवता इत्यादि को होना चाहिए । हमारा प्रत्येक कर्म उक्त गुणों से युक्त होना चाहिए । तभी हम धार्मिक कहला सकते हैं । परन्तु ऐसा करना बड़ा मुश्किल ही है , अतः भाई लोगों ने बीच का सरल मार्ग निकाला -- अपने सारे गोरख-धंधे करते रहो और धर्म के नाम पर पूजा-पाठ , टीले-टपके , विधि-विधान भी करते रहो । अभिप्राय यह कि धर्म अलग है , कर्म अलग है । यह मानवता के साथ की गई बहुत बड़ी साजिश है और यह साजिश धर्म के नाम पर हुई । वस्तुतः कर्म के बिना धर्म पंगु है और धर्म के बिना कर्म निस्सार । केवल बाह्य-विधि-विधानों

केवल पूजा-पाठ , केवल कथा-किर्तन , केवल देव-दर्शन धर्म नहीं है । परन्तु धर्म को इसीमें महदूद किया गया । यही "स्यूडो-रीलिजियनशीप" है । यही मानवता के लिए सबसे बड़ा खतरा है ।

गुरु नानक की एक पंक्ति है — " ना तू हिन्दू , ना तू मुसलमान" पंक्ति तो बड़ी सरल है , पर गूढ़ार्थ की व्यंजक है । न हम सच्चे हिन्दू है , न हम सच्चे मुसलमान हैं , क्योंकि हम सच्चे मनुष्य ही नहीं है । हिन्दू , मुसलमान , सीख , ईसाई , पारसी , यहूदी यह सब होने से पहले हम मनुष्य हैं और यही भूल जाते हैं । कट्टरवादिता धर्म-मात्र की शत्रु है । इधर तस्लीमा नसरीन के उपन्यास "लज्जा" की बहुत चर्चा है । यह "लज्जा" हम सबकी लज्जा है , मानवता की लज्जा है । इसमें कट्टरवादी धर्म ﴾9﴿ की अराजक, अतार्किक बर्बरता को लेखिका ने व्यंजित किया है । हिन्दुस्तान में 6 दिसम्बर , 1992 को बाबरी मस्जिद ढहाये जाने पर बांगलादेश के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर जो गाज गिरी थी , उनके साथ जो अमानुषी अत्याचार हुए थे उसका लोमहर्षक यथार्थ निरूपण लेखिका ने किया है और आश्चर्य और विडम्बना की बात यह है कि यहां के कट्टरपंथी ही इसे लेकर तस्लीमा को आसमान पर बिठा रहे हैं । "पंचजन्य" में उसके कुछ पृष्ठ छापे गए हैं ।[42] पर वे भूल जाते हैं कि तस्लीमा का यह उपन्यास एक दोधारी तलवार है । वह जितना वहां के कट्टरपंथियों पर वार करती है , उतना ही वार यहां के कट्टरपंथियों पर भी प्रकारान्तर से हुआ है । वस्तुतः उसका यह उपन्यास धार्मिक कट्टरता के ही खिलाफ है । लेखिका ने सही पहचाना है — " हिन्दुओं के स्वार्थरक्षकों को क्या मालूम नहीं है कि कम से कम दो ढाई करोड़ हिन्दू बंगलादेश में है ? सिर्फ बंगलादेश में ही क्यों , पश्चिम एशिया के प्रायः सभी देशों में हिन्दू हैं । उनकी क्या दुर्गति होगी , क्या हिन्दू कठमुल्लों ने कभी सोचा भी है ? राजनीतिक दल होने के नाते भारतीय जनता पार्टी को इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि भारत कोई विच्छिन्न जम्बूद्वीप नहीं है । भारत में यदि विष फोड़े को जन्म देता है तो उसका दर्द सिर्फ भारत को ही नहीं भोगना पड़ेगा, बल्कि वह दर्द समूची दुनिया में , कम से कम पड़ोसी देशों में तो सबसे पहले फैल जायेगा । "[43]

धर्म के नाम पर हमारे यहां सामाजिक विभक्तिकरण की प्रक्रिया कैसे शुरू हुई उसका निर्देश आचार्य महाप्रज्ञ ने दिया है -- "आदिम युग में मानव-जाति एक थी । उसमें कोई भेदभाव नहीं था । जैसे-जैसे सत्ता , धन और बुद्धि का अहंकार बढ़ा , वैसे-वैसे मानव जाति विभक्त होती गयी । ऊंच-नीच और छुआछूत का भेद आ गया । मानव-जाति के विभक्तिकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी । सहस्त्राब्दियों तक यह क्रम चला और इसे धर्मग्रंथों का समर्थन मिलने लगा । ... (तभी) ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने कहा -- ' एक्का मणुस्सा जाई ' -- मनुष्य जाति एक है । उस समय भारतीय तत्व-चिंतन की दो धाराएं चल रहीं थीं -- श्रमण धारा और ब्राह्मण धारा । ब्राह्मण धारा जन्मना जाति का समर्थन कर रही थी । महावीर और बुद्ध श्रमण परंपरा के प्रवचनकार थे । उन्होंने कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । .... तपस्या की विशेषता है , जाति की कोई विशेषता नहीं है । यदि कर्मणा जाति की अवधारणा चालू रहती तो न छुआछूत की भावना पनपती , न जातिवाद का उन्माद होता और न भारतीय समाज टूटता । "[44]

अतीत , इतिहास और परंपरा के सुदीर्घ दौर में भारतीय समाज के ठेकेदारों ने कहां-कहां अक्षम्य अपराध किये उसका ब्यौरा देते हुए श्री नर्मदाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं -- " ये सारे रचना-पुरुष (राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध) , हमारी धरोहर के उत्कृष्ट रचयिता , बजाय महान सर्जकों के रूप में भगवान बनाकर पूजे जाने लगे । उनके कर्म की प्रेरणा मालाओं में बन्दी बना दी गई । उनके स्वर घंटियों और घड़ियालों के तुमुल निनादों में खो गये और उनका xxxxxxxxxx स्वरूप पाषाणी शिल्पों में विलीन हो गया और इस तरह हमने आकार भले संजो लिए लेकिन आकाश खो दिये । हम नहीं जानते कि अनजाने में हमने उन असीम आकाशों को विसर्जित कर दिया, जिनके क्षितिजों से हमारे विकास की संभावनाओं के असंख्य सूरज फूट सकते थे । " ... हम प्रचार करने लगे कि हम तुम जैसे बन तो नहीं सकते लेकिन हम तुम्हें पूज जरूर लेंगे ताकि तुम आशीर्वाद देकर हमें बिना कुछ किये वह सब सौंप दो जो हम अपनी xxxxxxxx अकर्मण्यता से पा नहीं सकते । आज के ये

सारे आडंबर इन महान अपवादों को पूजने के नाम पर नकारने की कोशिश है ताकि हमारी अकर्मण्यता छुपी रहे । "45

~~वस्तुतः~~ उक्त उद्धरण में एक शब्द आया है -- " अनजाने में " । वस्तुतः यह सब अनजाने में नहीं हुआ है , बल्कि धर्म के ठेकेदारों ने , "छद्म-धर्मियों ने " बहुत चालाकी से किया है । महापुरुषों , लेखक के शब्दों में कहें तो हमारे रचना पुरुषों के आचरण व उपदेश से लोगों को विरत करने के हेतु से ही उनका भगवानीकरण हुआ है और उनके वास्तविक महामानवीय कर्मों को दैवी घोषित कर मानवीय उद्योग से परे के उद्घोषित कर दिये हैं ।

यहां धर्म का इतना विस्तृत विवेचन इसलिए दिया है कि हम वास्तविक धर्म के अर्थों को ही विस्मृत कर गये हैं । धर्म और धर्म के औजारों -- शास्त्रों के माध्यम से हमने समाज को तोड़ा है , विभक्त किया है । धर्म तो मनुष्य की खेती के लिए है , उसके उजाड़ के लिए नहीं । धर्म के नाम पर मनुष्य को छलना , दलना , अपमानित व प्रताड़ित करना ; धर्म के नाम पर मनुष्य में घृणा और द्वेष के विषबीज बोना ; धर्म के नाम पर साहजिक-नैसर्गिक मानवीय समरसता को तहस-नहस कर डालना ; धर्म के नाम पर ऐसी सामाजिक व्यवस्था को पोषित करना जो आर्थिक विषमता की अमरवेल को संवर्द्धित करती रहे ; यह कतई-कतई मानवता के हक में नहीं है । अतः समय-समय पर लेखकों और चिन्तकों में मानव-धर्म को लेकर उहापोह हुआ है । ~~ऋषभ~~चरण जैन को भी उक्त बातों आलोड़ित किया है , अतः उन्होंने मानवीय सत्य और गरिमा ~~के~~ की रक्षा हेतु अपने समय में मानव-धर्म की हिमायत की थी ।

सन् 1942 में उन्होंने "मानवधर्म" के नाम से एक धार्मिक-सांस्कृतिक आंदोलन शुरू किया और मानवतावाद के प्रवर्तक हो गये । इस मानवधर्म से उन्हें इतना लगाव हो गया था कि उन्होंने अपना नाम भी ~~ऋषभ~~चरण जैन के स्थान पर "मानव" कर दिया था । जैन धर्मावलम्बी होने के कारण जैन धर्म के प्रति उनके मन में श्रद्धा थी अन्धश्रद्धापूर्वक अन्धा-धुन्ध तरीके से उस धर्म की सब बातों का समर्थन करने के पक्ष में वे नहीं

थे । खानपान आदि में वे अपने धर्म की मर्यादाओं का पालन अवश्य करते थे । प्रकृति से उदार व दानी थे । किसीको बुरी बात कहकर उसका दिल दुखाना उन्हें कतई पसन्द नहीं था ।

ऋषभजी के दादा चम्पतराय जैन , जैन धर्म का देश-विदेशों में प्रचार करने में अकलेक वीर थे ।[46] इसका कुछ प्रभाव ऋषभजी पर भी देखा जा सकता है । दादा चम्पतराय ने अपने समय में सुषुप्त जैन समाज को जगाने का विरल कार्य किया था । वे अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद के संस्थापक और प्रथम सभापति भी थे । जैन धर्म के छि मर्मज्ञ विद्वान होने के नाते अंग्रेजी में जैन धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण करके उन्होंने जैन धर्म की अपूर्व सेवा की थी । दूसरी ओर ऋषभजी जैन धर्म के प्रति उदार तो रहे , किन्तु धर्म-विषयक कट्टरता से दूर रहे , क्योंकि कट्टरता को वे मूलतः धर्मविरोधी मानते थे । पितामह चम्पतराय के कट्टर जैनपंथी होने के बावजूद ऋषभजी ने जैन-धर्म के आडंबरों का विरोध किया । उन्हीं दिनों में वे आर्यसमाज के स्वामी श्रद्धानंदजी के सम्पर्क में आये और उनसे काफी प्रभावित हुए । यह इसी प्रभाव का ही परिणाम था कि जैन मुनियों के शहरों में आने पर भारी भीड़ जमा होने का विरोध उन्होंने किया था । फलतः जैन-समाज की ओर से उसका विरोध भी हुआ और जैन-समाज ने उसे मुनि-निन्दा और समाज-विद्रोह के रूप में लिया और दिल्ली की दिगम्बर जैन पंचायत ने उन्हें बिरादरी से बहिस्कृत कर दिया । परन्तु वे अपने इरादों पर दृढ़ व अटल थे , अतः इसकी कोई परवाह उन्होंने नहीं की । अन्ततः सन् 1942 में जैसा कि ऊपर कहा गया है उन्होंने "मानवधर्म" के नाम से एक सांस्कृतिक आंदोलन चलाया ।

इस "मानवधर्म" के दस मूल मन्त्र थे -- /1/ मैं स्वतंत्र हूं । /2/ मैं मनुष्य हूं । /3/ मैं एक महान जाति का सदस्य हूं । /4/ मेरे संकल्प सदा महान होते हैं । /5/ मैं किसीसे अनुचित लाभ नहीं उठाता, अतः कोई मुझसे भी अनुचित लाभ मत उठाओ । /6/ मैं अपने प्रति अपना कर्तव्य पालन करता हूँ । /7/ मैं मन , वचन , कर्म से मनुष्य जाति की

सेवा करना चाहता हूं । /8/ मैं मद्य को अपेय समझता हूं । /9/ मैं जात-पात का कायल नहीं हूं । /10/ सर्वप्रथम मैं मनुष्य हूं , फिर भारतीय , फिर हिन्दू और उसके बाद .... " 47

इस दिशा में ऋषभजी ने अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाओं का प्रणयन किया जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है । यहां अभिप्राय केवल इतना है कि उनका धर्म-विषयक चिंतन का दायरा काफी विस्तृत था और सीमित व संकुचित दायरों में सिमटना उन्हें कतई गवारा नहीं था ।

नारी-विषयक दृष्टिकोण : किसी लेखक के नारी-विषयक दृष्टिकोण से भी उसकी सामाजिक चेतना व मानव-चेतना को प्रमाणित किया जा सकता है , अतः एक लेखक व चिंतक के रूप में ऋषभजी का मूल्यांकन करते हुए उनके नारी-विषयक विचारों को भी जान लेना आवश्यक है , इतना ही नहीं वह उसके व्यक्तित्व का एक अंग भी है । कोई भी लेखक एक ही साथ अपने समय की उपज तथा अपने समय का सर्जक होता है । अतः उनके समकालीनों एतद्विषयक विचारों को जानना भी अपरिहार्य हो जाता है ।

वस्तुतः नर और नारी प्रकृति के दो रूप हैं । रथ के दो पहिये हैं । समाज को , संसार को चलाने और गतिमान रखने के लिए दोनों की आवश्यकता रहती है । आचार्य चतुरसेन शास्त्री इस संदर्भ में कहते हैं -- " दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं । स्त्री न बच्चा पैदा करने या पुरुषों के भोगने की वस्तु है , न आज्ञाकारिणी दासी है , ऐसा मेरा मत है । " 48 एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं -- " पुरुष विश्व को केन्द्र मानकर आत्म-प्रतिष्ठा की चेष्टा करता है और स्त्री आत्मा को केन्द्र मानकर विश्व-प्रतिष्ठा करती है । " 49

नारी से ही धर्म , परिवार और लग्न की संस्थाएं टिकी हुई हैं । पुरुष स्वभावतः स्वैरविहारी और स्वच्छंद होता है , स्त्री गृहविहारी और स्वस्थ । प्रेमचन्दजी ने मातृत्व को नारी की चरम

सार्थकता मानी है । उनके विचार में नारी का यह रूप ही पुरुषों को कुपथों से बचाकर जीवन कल्याण की दिशा में ले जाता है । "सेवासदन" उपन्यास में सुमन कहती है — " वासनालोलुप पुरुष नारी के शरीर को ब्याज मानते हैं । "[50] वस्तुतः प्रेमचन्द में हमें नारी के विविध रूप मिलते हैं , फिर भी आदर्श-रूप में देखा जाये तो प्रेमचन्द के यहां मां , बहिन , सर्वसहा और संघर्षशील नारी को विशेष आदर मिला है । "कायाकल्प" की लौंगी एक सती स्त्री है , "सेवासदन" की भोली वेश्या है , "काया-कल्प" की मनोरमा प्रेम में निराश एक आदर्शवादी स्त्री है , "प्रेमाश्रम" की गायत्री एक खुदमुख्तार विधवा है ; "गोदान " की धनिया , "निर्मला" की निर्मला , "सेवासदन" की सुमन , "गबन" की जालपा प्रभृति नारियां संघर्षशील नारी-जीवन के उदाहरण हैं । प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में वेश्याओं का चित्रण है , परन्तु वेश्या-समाज के प्रति प्रेमचन्द में सहानुभूति के भाव मिलते हैं । वस्तुतः वे इस सामाजिक कोढ़ के पीछे हमारी गलत समाज व्यवस्था और भ्रष्टाचार से संगृहीत संपत्ति को ही कारणभूत मानते हैं । "सेवासदन" के कुंवर अनिरूद्ध के शब्दों में मानो प्रेमचन्द ही कह रहे हैं — " हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है । चौक में चहल-पहल है । चकलों में रौनक है । यह मीना बाजार हम लोगों ने ही सजाया है । ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी हैं । ये कठपुतलियां हमने ही बनायी हैं । जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर व सम्मान के पात्र हों , वहां दालमण्डी क्यों न आबाद हो । हराम का धन हराम-कारी के सिवा और कहां जा सकता है । जिस दिन नज़राना, रिश्वत और सूद-दर-सूद का अंत होगा , उसी दिन दालमण्डी उजड़ जाएगी ।"[51] इसी प्रकार "गबन" उपन्यास की जालपा में हमें "अलंकार-प्रेम" का दूषण मिलता है , परन्तु यदि उसके सामाजिक-पारंपरिक कारकों पर विचार करें तो वहां भी इस दुर्वृत्ति के पीछे अन्य महत्वपूर्ण बातें दिखाई पड़ेंगी । मन्मथनाथ गुप्त ने इस पर विचार करते हुए लिखा है — " गहने का मोह सामाजिक रोग का एक लक्षण है , न कि सारा रोग । यदि हम इस

बात पर विचार करें कि इस प्रकार गहने को मोह पुरूष-प्रधान सारी समाज-पद्धतियों में क्यों पाया जाता है, तो हम देखेंगे कि इसके कई गहरे कारण हैं । पुरूष-प्रधान समाज में नारी की कोई वैयक्तिक संपत्ति नहीं रही । अतः गहनों के रूप में स्त्रियों को हमेशा एक तरह से वैयक्तिक संपत्ति प्राप्त होती थी । इसके अतिरिक्त जिस समाज में नारी का सबसे बड़ा गुण, और चरितार्थता यह है कि वह पुरूष को रिझा सके, उसमें स्वाभाविक रूप से प्रसाधन के एक जबरदस्त साधन के रूप में अलंकारों की चाह होना स्वाभाविक है । फिर जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं, इस समाज में (मध्यवर्गीय समाज में) सब चाहते हैं कि अपनी हैसियत में अधिक करके अपने को दिखावें । इसके लिए भी अलंकार अच्छे साधन हैं । इस समाज में नारी का सबसे बड़ा गौरव यह भी है कि वह यह दिखा सके कि उसे पिता तथा बाद में पति का प्रेम प्राप्त है । यह प्रेम कितना है, इसको भी समाज में इसी बात से नापने का रिवाज है कि पिता ने तथा बाद में पति ने किस स्त्री को कितने गहने दिये । जब इतनी बातें हैं तो फिर स्त्रियों में अलंकार का मोह क्यों न हो । ट्रेजड़ी गहने की नहीं है, बल्कि सारे मध्यवित्त, बल्कि पुरूष-प्रधान समाज की ट्रेजडी है ।"[52]

समाज में स्त्री को पैरों की जूती ही समझा जाता रहा । वह पुरूष की "भव भव की दासी" बनी रहने के लिए ही मानो अवतरित हुई है, परन्तु राजा राम मोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, दयानंद सरस्वती, महात्मा फुले, दुर्गाशंकर मेहता आदि के प्रयत्न-स्वरूप तथा बाद में महात्मा गांधी के आह्वान से स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है । अब उनमें कुछ जागृति आ रही है । आज की स्त्री पुरूष की संपत्ति मात्र बनकर रहना नहीं स्वीकार करती । वह सच्चे अर्थों में पुरूष की संगिनी बनकर रहना चाहती है । कुछ बदलाव आया है, पर स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ है । अन्यथा अभी हाल ही में प्रकाशित "औरत होने की सजा" (अरविंद जैन) जैसी "तकलीफदेह किताब"[53] क्यों आती ? सुधीश पचौरी ने इस पुस्तक के

सन्दर्भ में लिखा है -- " यह एक तकलीफदेह किताब है । इसे पढ़ने के बाद कई भोले भरोसे टूटते हैं और नये मोर्चे खुलते हैं । ... यदि कोई सामान्य स्त्री इसे पढ़ेगी तो वह अपनी तकलीफ के उस समूचे जंजाल को समझ सकेगी जो मर्दों ने कानून के नाम पर उसे फांसे रखने के लिए बनाए हैं । लेखक अरविंद जैन ने बड़े निर्मम साहस के साथ उन तमाम स्त्री विरोधी ही नहीं , स्त्री हितों के शत्रु के रूप में सक्रिय धाराओं, नियमों, उपनियमों को उजागर कर दिया है जो अब तक प्रायः आंखों से ओझल रहते आये हैं । .... पुस्तक का पहला अध्याय " होई है सोई जो पुरुष रचि राखा " पढ़ने योग्य है । इस अध्याय में अरविंद ने आत्मगत शैली में एक ऐसी मर्दानी भाषा को प्रस्तुत किया है जो मर्दों के भीतर मर्दवादी जकड़जाल और दादागिरी को खोलती जाती है । मर्दवादी व्यक्ति इस कानून में कितना सुरक्षित और प्रसन्न है , और किस तरह वह इसे अपने लिए इस्तेमाल करता जाता है , यह देखने के लिए यह अध्याय एक रचनात्मक बयान है :" मैं आदमी हूं । यानी पुरुष, मर्द, स्वामी , देवता , मंत्री , संतरी , सामंत , राजा , मठाधीश और न्यायाधीश -- सबकुछ मैं ही हूं । तुम स्त्री हो । मगर मुझसे अलग मेरे विरुद्ध आंख उठाने की कोशिश भी करोगी तो कीड़े-मकोड़े की तरह कुचल दी जाओगी ।" .[54]

ऋषभचरण जैन के समय में वेश्याओं की समस्या एक अहम समस्या थी । मशहूर तवायफों को शादियों में बुलाने का रिवाज था । मद्य तथा मांसाहार चलता था । तत्कालीन परिस्थितियों की शिकार होकर नारी वेश्या बनकर समाज के लिए चुनौती तो बनी , पर इस पूरे संघर्ष में उसकी इयत्ता कहीं खो गई । वह रही वेश्या की वेश्या ही । ऋषभजी के लेखन में इस समस्या को गहराई से उकेरा गया है ।

उनके विचार में नारी सीता भी होती है , सावित्री भी होती है तथा नारी पिशाचनी भी होती है । अपने उपन्यासों में नारी को उन्होंने बहुत ऊँचे स्थान पर स्थापित किया है ,[55] तो कहीं नारी के गर्हित रूप को भी वे सामने लाये हैं ।[56]

ऋषभजी जानते थे कि हमारे समाज में पाखंडी , व्यभिचारी तथा नीच नर-नारियों की कमी नहीं है । यथा - " बना रहे यह सुन्दर-लाल , इस बदमाश हब्शी की आड़ में , पता नहीं , कितने अछूतों जवानों का यह नाश कर चुकी है । ऐसे-ऐसे जुल्म ढा चुकी है , तो भी जरा-सी वेदना की छाया , अनुताप की रणक , पश्चाताप की जलन मैंने कभी इसके चेहरे पर नहीं देखी । रोज़ नया शिकार फांसने को फिक्र में रहती है ।"[57] दूसरी ओर उनके उपन्यास "चम्पाकली " की वेश्या चम्पाकली में हमें आदर्श व उच्चप्रेम की प्रतिष्ठा दृष्टिगत होती है , यथा - " हां , मैं तुम्हें प्यार करती हूं । मैं जानती हूँ , मुझे किसीको प्यार करने का अधिकार नहीं । मेरा यह अधिकार छिन चुका है । कोई मेरी इस बात पर यकीन नहीं कर सकता ... लेकिन सच , मैं रण्डी बनकर तुम्हारे साथ नहीं सोयी मेरे प्यारे , मैं ' तुम्हारी ' बनकर यहां रही हूं और मुझे इसके एवज में धन-दौलत की ख़ाहिश सर्वथा नहीं है । ... मैं जानती हूं कि तुम बड़े आदमी हो । मैं यह भी जानती हूं कि तुम पक्के तमाशबीन हो । यह भी मुझे पता है कि तुमने तमाशबीनी में हजारों रूपया स्वाहा किया है , और यह भी मुझे तुम्हींने बतलाया कि तुम दिल भी रखते हो । लेकिन क्या तुम इस बात पर यकीन रखते हो कि रण्डी भी दिल रखती है और कोई रण्डी तुमसे भी बड़ा दिल रख सकती है ? अगर तुम यह नहीं जानते तो , मैं चाहती हूं कि आज तुम यह जान लो । मैं तुम्हें चाहती हूं और चाहती हूं कि तुम मुझे प्यार करो । इस कागज के टूकड़ों में मुझे तोलनेवाले बहुत से मिले और बहुत से मिल जायेंगे , लेकिन क्या तुम ... सिर्फ तुम , रामदयाल , क्या मुझे अलग रखकर भी प्यार कर सकते हो ? "[58]

ऋषभजी को समाज में स्त्री की दयनीय लाचार अवस्था के प्रति अपार संवेदना और पुरुष की वासनात्मक भ्रमरवृत्ति के प्रति घृणा थी , अतः उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए "दिल्ली का व्यभिचार" में वे लिखते हैं — " स्वयं पुरुष जो विवाह करना ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं । ये लोग अपनी जिम्मेवारी को महसूस नहीं करते , स्त्रियों

को वे पत्थर समझते हैं । अपने आप नित्य नये मजे लूटते हैं और आंख के अन्धे यह कल्पना नहीं करते कि अभागिनी स्त्री भी हृदय रखती है ।"[59]

सामन्तवादी कुत्सित परंपराओं में नारी को पैरों की जूती और दासी ही समझा गया है, ऋषभजी ने उसको अतिक्रमित करते हुए नारी-स्वतंत्रता पर जोर दिया है । लेकिन वहां भी स्वतंत्रता के नाम पर स्वच्छंदता के हामी नहीं है और मर्यादाओं की सीमाओं को लांघना उन्हें कभी श्रेयस्कर नहीं रहा । आज के बदलते सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वे स्त्री-पुरुष के संबंधों की स्वतंत्रता को केवल एक सीमा तक समुचित मानते थे । उसके आगे जहां वे संबंध व्यभिचार का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें कतई स्वीकार नहीं था । ऋषभजी प्रेम के नाम पर नर-नारी के अनैतिक पंकिल संबंधों के पक्ष में नहीं थे, क्यों कि ऐसे वासनापरक संबंध ही सामाजिक जीवन को कलुषित करते हैं और अन्यत्र किसी-न-किसी नारी को प्रताड़ित करते हैं । उनके उपन्यासों में जिस नारी-प्रेम की व्यंजना हुई है वह उज्ज्वल जीवन और उच्चादर्शों से पूर्णतया अनुप्राणित है । इस प्रकार ऋषभजी की नारी-भावना भारतीय चेतना, या कहिए युगीन प्रेमचन्दयुगीन चेतना के अनुरूप है । नारी को महान और शक्ति का स्रोत मानते हुए "दिल्ली का व्यभिचार" में वे कहते हैं -- " मां बहनों से मेरी कर-जोड़ प्रार्थना है कि तुम भारत की रही-सही लाज हो, तुम पाखण्ड में मत भूलो, तुम वासना की शिकार मत बनो, तुम शक्ति हो, पुरुषों की मां हो, वैसी ही रहो । "[60]

ऋषभजी ने अपने उपन्यासों में नारियों की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित किया है । उन अवस्थाओं में, विशेष परिस्थितियों में, उनके व्यवहारों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुए उनके मानसिक उहापोह को उजागर किया है । उनके उपन्यासों में नारी मां, बहिन, पत्नी, प्रेयसी, रखैल, वेश्या आदि रूपों में मिलती है । कुछ भी हो, सर्वत्र नारी-मन की पीड़ा, दुःख तथा आदर्श प्रेम के सच्चे स्वरूप का चित्रण तो अवश्यमेव हुआ है ।

ऋषभजी ने नारी के कुत्सित रूप को भी जहां रखा है , वहां उन परिस्थितियों को भी जरूर-जरूर उकेरा है जिनके रहते वे इस प्रकार के गर्हित कार्य की ओर उन्मुख होती हैं । इनके कथा-साहित्य में भारतीय आदर्शों पर चलने वाली "भाग्य" उपन्यास की कुमारी , "मन्दिरदीप" की रानी , "हिज हाइनेस" की रानी त्रिपुरी तथा मां महारानी , "भाई" की दुर्गा जैसे आदर्श नारी-पात्र मिलते हैं तो दूसरी तरफ पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगी हुई पुरूष के विकार की डोरी से परिचालित कठपुतलियां भी मिलती हैं , यथा - "मन्दिरदीप" उपन्यास की रोज , "भाग्य" उपन्यास की करूणा , "हर हाइनेस" की हर हाइनेस , "हिज हाइनेस" की फिल्म-अभिनेत्री आदि-आदि ।

नारी का संघर्षशील रूप , शक्ति का रूप , प्रेरणामूर्ति-रूप भी हमें ऋषभजी में मिलता है । यहां नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग है । उनमें कुछ कर गुजरने का जीवट भी है और समाज तथा सत्ता से टकराने का साहस भी है । "तपोभूमि" तथा "सत्याग्रह" उपन्यास के नारी पात्रों को यहां रेखांकित किया जा सकता है । नारी यहां प्रेरणा-मूर्ति भी है , जैसे "गदर" उपन्यास की नायिका अजीमुल्ला के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत है ।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋषभजी नारी के उदात्त रूप के प्रशंसक हैं । उनके मन में नारी के प्रति अपार श्रद्धा एवं आदर है । मां के रूप में उन्होंने हमेशा नारी को गरिमामंडित दिखाया है । मातृत्व को वे नारी की एक प्राकृतिक आकांक्षा के रूप में ही लेते हैं । यह मातृत्व नारी के उदात्त जाज्वल्यमान व्यक्तित्व के उपयुक्त विकास का एक अपरिहार्य अंग भी है । पत्नी के रूप में वह न केवल पुरूष की शैयाभागिनी है , अपितु उसकी जीवन-साथी , प्रेरणामूर्ति एवं सच्ची सहायिका व मार्ग-दर्शिका भी है । स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए पत्नी एक आवश्यक धुरी का काम करती है । कन्या के रूप में वह घर में एक आनंद , उमंग उल्लास और शुचिता का सृजन करती है

वेश्या के रूप में भी नारी को ऋषभजी ने नितान्त गर्हित नहीं बताया है । कई बार ऐसी नारियां नवयुवकों के प्रति अपने आदर्श का विस्मरण नहीं करतीं और उन्हें गलत रास्तों पर अग्रसरित होने से रोकती भी हैं ।[60] "चम्पाकली" उपन्यास की चम्पाकली भी उदात्त वेश्याओं की चरित्र-कोटि में आती है ।

ऋषभजी ने अपने उपन्यासों में हमारे विषाक्त समाज के व्याभिचारिक परिवेश को बड़े पैमाने पर उजागर किया है , अतः पुरुषों की निरंकुश वासनाओं और दुर्बलताओं के चित्रण में अनेक विधवा , साधनहीन, आर्थिक दृष्टि से निम्न कोटि एवं निम्न जाति की स्त्रियों का निरूपण भी हुआ है । कहारिनें , नाइनें , मलारिनें आदि को इनमें लिया जा सकता है ; परन्तु यहां भी उनकी लाचारदर्दी को ही तूल दिया गया है । उपेक्षिताओं और वेश्यओं के गर्हित एवं निन्दित चित्र प्रस्तुत करते हुए भी उन्होंने पाठकों को सतर्क किया है कि नारी को उसका उचित वन्दनीय स्थान समाज को देना ही होगा , अन्यथा वह इसी समाज पर कुष्ठ रोग की भांति फूट निकलेगी । इस प्रकार सर्वत्र ऋषभजी ने नारी को मूलतः गरिमायुक्त ही दिखाते हुए उसकी अस्मिता को जगाने का प्रयत्न किया है ।

मानव-सहज दुर्बलताएं : प्रत्येक व्यक्ति में कोई-न-कोई मानव-सहज दुर्बलता होती ही है । तभी तो कहा गया है — " मनुष्य मात्र भूल पात्र " । महान से महान व्यक्ति में भी कुछ कमजोरी होती है और बुरे से बुरे व्यक्ति में भी कुछ अच्छाई होती है । अतः हमें विवेक-दृष्टि से इस पर विचार करना चाहिए । परन्तु होता यह है कि हम महान व्यक्तित्वों की चकाचौंध में उसकी कमजोरियों को देख नहीं पाते और फलतः हम उसे देवता के शिखर पर आसीन कर देते हैं । देवता होते ही वह अनालोच्य हो जाता है और मानवता अपनी गरिमा से वंचित रह जाती है । मेरे निर्देशक डा. देसाई का एक दोहा यहां उल्लेखनीय रहेगा —

" राम , कृष्ण गौतम भये , रहे तीन के तीन ।
जो उठा सो देवता , मानुष दीन का दीन ।।"[61]

अतः कम से कम मनुष्यता की रक्षा हेतु भी हमें इस दैवीकरण (डिवाइनी-फिकेशन) की प्रवृत्ति से दूर रहना होगा और तटस्थता से महान से महान व्यक्ति की कमजोरियों को भी देखना होगा ।

इस दृष्टि से विचार करने पर ऋषभजी में भी ऐसी कतिपय कमजोरियां नज़र आती हैं । ऋषभजी रईस और शौकीन तबीयत व्यक्ति थे । उस समय के दिल्ली-समाज में , अभिजातवर्गीय समाज में , रक्षिताओं को (रखैलों को) पालने का एक शौक , रिवाज या फैशन था । ऋषभजी की ऐसी एक प्रेमिका-रक्षिता थी जिनका नाम था छविरानी चटर्जी । लोग उन्हें "बंगालिन सुमित्रा " भी कहते थे ।[62] आप जिद्दी तथा सनकी भी थे । जो धुन सवार हो जाती , उसके पीछे पड़ जाते और उसके भविष्यत दुष्परिणामों की बिल्कुल चिंता न करते । कहना न होगा कि उनकी इसी आदत के कारण ही जब वे फिल्म लाइन की ओर आकर्षित हुए तो जमे-जमाये प्रकाशन व मुद्रण के व्यवसाय को कौड़ियों के मोल बेच दिया और फलतः जब फिल्मी व्यवसाय में ठोकर खाई तो संभलने का कोई ठौर ही नहीं रहा ।

मेहनती व परिश्रमी होने के बावजूद दुन्यवी व्यवहारपटुता का आपमें कुछ अभाव-सा ही दिखता है । खरी-खरी सुनाने के कारण आपने कइयों को बिना कारण अपना शत्रु बना लिया था । एक समय ऐसा आया कि दिल्ली के जैन-समाज को भी आपने अपना विरोधी बना लिया । अपनी इस अकड़ और "सुपर-इगो" के कारण ही आप अन्ततः टूट -से गये ।

ऋषभजी में सीधापन भी गजब का था । इतना सीधापन कि जिसे एक दुर्गुण भी कहा जा सकता है । कहा गया है --

" अति मधुरता भी बुरी , होता उससे नाश ।
गन्ने को सहना पड़े , कोल्हू केरा त्रास ।।"[63]

इस कारण से ऋषभजी में भीतर-बाहर एक जैसा होता था । अन्दर कुछ, बाहर कुछ उनके स्वभाव में नहीं था । अतः जब वे किसी पर विश्वास करते थे , तो उसकी कोई सीमा नहीं होती थी । इस अकुंठित विश्वास के कारण ही उन्हें मात खानी पड़ी , क्योंकि जिन पर प्रगाढ़ विश्वास किया , वे ही अन्ततः विश्वासघात कर गये ।

"प्रभात विद्यार्थी " जो आपके प्रधान संपादक थे । उन पर उन्हें गजब का विश्वास था । सब काम उनके भरोसे छोड़ रक्खे थे और विद्यार्थी जी का कहना उनके लिए पत्थर की लकीर के समान होता था । परन्तु विद्यार्थीजी उनके प्रति उतने सच्चे नहीं थे । "बदलती दुनिया" नामक फिल्म के सिलसिले में ऋषभजी ने उन्हें लाहौर भेज दिया था , किन्तु उन्होंने ऋषभजी के साथ विश्वासघात करते हुए उन्हें आर्थिक संकट में डुबो दिया ।

अपने प्रकाशन के कामकाज में एक "जगतकुमार शास्त्री" को उन्होंने अपना पार्टनर बनाया था । धर्म, शिक्षा तथा नीति विषयक कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें ऋषभजी ने उनके साथ मिलकर सहलेखन में लिखी थीं और प्रकाशित भी करवाई थीं , किन्तु बाद में उन्हीं जगतकुमारजी ने ऋषभजी के उन पुस्तकों पर के अधिकार तक को नकार दिया था । इतना ही नहीं उन्होंने ऋषभजी की प्रेमिका और रक्षिता को भी बरगला कर अपने पक्ष में कर लिया था और उससे भी संबंध स्थापित कर लिये थे । कहना न होगा कि इन्हीं "सुमित्राजी" को जगतकुमार "माताजी" के नाम से संबोधित करते थे । इस प्रकार जिन पर अकूत विश्वास किया , वे ही धोखेबाज़ निकले और इस कारण ही अन्ततः वे टूट गये ।

श्री बालमुकुन्द मिश्र " जीवन का एक चढ़ाव , एक उतार" नामक अपने लेख में ऋषभजी की कुछ मानव-सहज दुर्बलताओं को रेखांकित करते हुए लिखते हैं — " ऋषभजी जीवन में इस पद्धति को अपना कर जीवन-क्षेत्र में बढ़े थे कि अधिक से अधिक काम करके उसका उचित श्रेय अपने सहयोगियों में बांटा जाये । उनकी इस नीति के साथ यह बात

भी ध्यान में रखने योग्य है कि वे कानों के कच्चे, प्रकृति के भीरू, स्वभाव के शक्की, हिसाब-किताब में कमजोर और बेखबर रहनेवालों में से एक थे। " 64 इसके साथ ही आप जिद्दी और सनकी भी थे यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है। आकंठ विश्वास और शक्कीपन उनके स्वभाव की दो परस्पर विरोधी अन्तर्धाराएं थीं। वे जिस पर विश्वास करते थे, पूरी तरह करते थे और उसकी सही-गलत सभी बातों में आ जाते थे। अतः चापलूस किस्म के लोगों ने उन्हें बरबाद करने में किसी प्रकार की कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। जब तक उनका सितारा बुलन्द रहा वे चापलूसी करते रहे और बाद में जब उनकी अवनति शुरू हुई तब वे उनके विरोधी हो गये। जहाज डूबने पर चूहे ही सबसे पहले भागते हैं।

मित्रों के संस्मरण : ऋषभजी के समकालीन लेखक मित्र तथा अन्य व्यवसायी मित्र भी उनके चरित्र पर अच्छा-खासा प्रकाश डाल सकते हैं। अतः यहां उनके कुछ ऐसे अंतरंग मित्रों के संस्मरण देने का उपक्रम है। समकालीन साहित्यकारों में ऋषभजी सम्माननीय थे। एक लोकप्रिय लेखक व प्रकाशक के रूप में आपने अपना स्थान बना लिया था। हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जैनेन्द्र ऋषभजी के घनिष्ठ मित्रों में आते हैं। सन् 1927-28 में उनकी प्रथम मुलाकात (ऋषभजी से) आचार्य चतुरसेन शास्त्री के माध्यम से हुई थी। जैनेन्द्रजी के अनुसार " ऋषभचरण जैन बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व वाले थे। ऋषभ ने किसी की उंगली पकड़कर आगे बढ़ना नहीं सीखा। आप अपने बाहुबल से अति संपन्न बने। सम्पन्नता और साहित्यिक सफलता के कारण बहुत ही छोटी उमर में आपका मान बढ़ा। मेरी राय में उन जैसा प्रतिभाशाली उस समय कोई न था। 'चित्रपट' और 'रूपवाणी' का संपादन करते हुए उन्होंने अपनी पत्रकारिता-प्रतिभा का ज्वलंत रूप प्रदर्शित किया। अपनी रचनाओं द्वारा समकालीन मानव-जीवन और समाज का यथार्थ चित्रण कर उसके माध्यम से सुधार लाना चाहा। ऋषभ

साहस अदम्य था । जैनेन्द्रजी ने बतलाया कि सामान्य स्थिति में उनको लिखने की इतनी आदत थी कि मानसिक संतुलन खो जाने के बाद भी उनकी लिखने की आदत बराबर बनी रही । "सुनीता" मैंने ऋषभजी की प्रेरणा से ही लिखी थी । ऋषभ एक योग्य , कुशल , खुले दिल का तथा हौंसलेवाला व्यक्ति था । हर वर्ष ऋषभ हमारे घर "पहाड़ी धीरज" पर होली खेलने आते थे । उनका यह कहना है कि लोगों को यह भ्रम हो गया है कि वे मेरे सगे भाई हैं । मेरी पहली रचना ऋषभजी ने सन् 1929 में "फांसी" नाम से प्रकाशित की थी । " 65

"जीवन-साहित्य" के संपादक श्री. यशपाल जैन ऋषभजी के सन्दर्भ में बताते हैं -- " ऋषभचरण शुरू से ही असाधारण व्यक्ति थे । साधारण बनकर उन्होंने जीना नहीं सीखा था । उनका व्यक्तित्व बड़ा ही प्रभावशाली व ओजस्वी था । उनका जीवन भी अत्यन्त क्रियाशील था । ऋषभजी स्वभाव के हमेशा हठी रहे । जो एक बार निश्चय कर लिया , उससे उन्हें कोई भी विचलित नहीं कर सकता था । उनकी गिरावट के समय में उनकी मित्र-मंडली ने , उनके बुजुर्गों ने उन पर बहुत जोर डाला कि वे उस रास्ते को छोड़ दे , लेकिन वे नहीं माने । अपने रास्ते पर चलते रहे । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि वे कभी पीछे मुड़कर नहीं देखते थे । अपनी करनी से वे कष्ट पाते थे । लेकिन कष्ट को वे कष्ट मानते तो उस रास्ते को छोड़ न देते । जो चाहा अडल्ले से किया , जो भी मुसीबत आई उसे साहस से सहा । पारिवारिक झगड़ों के बाद भी ऋषभजी अटूट रहे । इन संघर्षों ने ऋषभजी को कर्मनिष्ठ भी बनाया । ऋषभजी अपने अदम्य साहस , अटूट लगन , निष्ठा , परिश्रम तथा अपनी प्रखर बुद्धि के सहारे उठे और आगे बढ़े । " 66

जैनजी ने यह भी कहा कि " ऋषभजी के साथ मेरा संबंध सन् 1936-37 से है । उस समय ऋषभजी सिविल लाइन्स में रहते थे । स्वयं लिखते थे , प्रकाशन का काम करते थे । उनका अपना प्रेस था ,

साहित्य-जगत में उनकी धूम थी । मुझे याद आता है कि एक दिन बातचीत में मुझसे कहा था — " आज मैं आलीशान कोठी में रहता हूँ , लेकिन अगर समय आ जाये तो मैं एक छोटी-सी झोंपड़ी में भी रह सकता हूँ , आज मैं अच्छे-अच्छे भोजन करता हूँ लेकिन समय आ जाये तो मैं चने चबाकर भी रह सकता हूँ ।" ऋषभजी ने उस काल में जो जीवन जिया उसने बहुतों को प्रभावित किया । यही वैभव आगे चलकर उनके पतन का कारण बना । मुझे यह भी याद है कि जब उन्होंने दरियागंज दिल्ली में "दरबार भवन" का उद्घाटन करवाया था । उस समय श्री. एम.एन. राय तथा हम सब उपस्थित थे । उस समय का चित्र भी उपलब्ध था । बड़ा कारोबार था , लेकिन जब उसमें गिरावट आई तो सबकुछ स्वाहा हो गया । " 67

ऋषभजी के अंग्रेजी पत्र "रूपवाणी" के संपादक व हिस्सेदार श्री. अजितप्रसाद जैन ने बतलाया कि ऋषभचरण जैन असली अर्थ में सच्चे मानव थे । आपमें काम करने की सच्ची लगन थी । घण्टों प्रेस में गुजारते थे । लोगों ने ऋषभजी पर चरित्रहीनता का दोष लगाया है , परन्तु अजितप्रसादजी के विचारों में ऋषभजी का चरित्र बुरा नहीं कहा जा सकता । ऋषभजी ने बंगालिन सुमित्राजी से जो प्यार किया वह अपवाद ही था । उनमें ऐसी कोई बुराई न थी जो दूसरे लेखकों में न पाई गई हो । " उग्र " भी तो रात-रात भर कोठों पर रहते थे । शराब सब पीते हैं । अंग्रेजी के लेखक भी लिखने के लिए शराब को आवश्यक मानते हैं । ऋषभ ने शराब पी तो क्या बुराई की । ऋषभ शराब पीकर कभी नाली में नहीं गिरे । चमकने के बाद और चमकने का समय आया तो भाग्य का ऐसा धक्का लगा कि वे विक्षिप्त हो गये । लेकिन कुछ भी हो उनका अपनी लेखनी पर पूरा संयम था । " 68

"रंगभूमि" के सम्पादक श्री. धर्मपाल गुप्त जनवरी सन् 1941 में ऋषभजी के यहां ही सह-सम्पादक के रूप में कार्य कर रहे थे । उन्होंने

ऋषभजी के सन्दर्भ में बताया कि उन्होंने ऋषभजी के साथ काम करके बहुत कुछ सीखा है । उनमें अनेक विशेषताएं और दुर्बलताएं थीं , परन्तु वे एक निःस्पृह , निश्चल और सरल इन्सान थे । वे अत्यन्त महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे । छोटी योजना अथवा छोटे पैमाने पर कोई भी कार्य करना उन्हें पसंद नहीं था । गुजराती के एक कवि ने कहा है —

" निशान चूक माफ
नहीं माफ नीचुं निशान । " [69]

अर्थात् यदि कोई अपना लक्ष्य चुक जाता है तो उसे क्षमा किया जा सकता है , परन्तु उस व्यक्ति को हरगिज़-हरगिज़ मुआफ नहीं किया जा सकता जिसका लक्ष्य ही छोटा होता है । ऋषभजी कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्त को मानते थे , ऐसा लगता है ।

धर्मपालजी आगे उनके विषय में बताते हुए कहते हैं कि पुस्तक प्रकाशन और विभिन्न पत्रिकाओं का प्रकाशन " साहित्य-मंडल " के नाम से आरंभ करने वाले ऋषभजी को अपनी लिखी हुई पुस्तकों से उतना ही प्रेम था जितना किसी को अपनी सन्तान से होता है । ऋषभजी सदैव दिल से चाहते थे कि उनके साहित्य-मंडल की छत्र-छाया में अध्ययन के उपरांत अधिक से अधिक बुद्धिजीवी पत्रकार पैदा हों । ऋषभजी से पत्रकारिता सिखकर यश प्राप्त करनेवाले बहुत से व्यक्तियों में से सर्वश्री चन्द्रधर , विद्यार्थीजी , पीयूष , बनारसीदास , अजितप्रसाद जैन तथा संपतराय पुरोहित के नाम उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं ।[70]

आज "रंगभूमि" ने जो सफलता प्राप्त की है उसका श्रेय भी ऋषभजी को ही जाता है । साहित्यकार जैनेन्द्र तथा स्व. चतुरसेन शास्त्री को आगे लाने में भी ऋषभजी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । उनको पुस्तक-प्रकाशन के क्षेत्र में लाने वाले ऋषभजी ही थे । ऋषभजी के सनकी स्वभाव के बारे में गुप्तजी एक घटना बताते हैं — " ऋषभजी हमारे घर आये और मुझे लिवा ले गए । मुझे याद है कि हमने ठण्डी लस्सी पी

फिर उसके बाद ऋषभजी ने मुझे 12 रिक्शे मंगवाने को कहा । मैंने पूछा क्यों , तो कहने लगे मंगवाओ तो सही और बस जबरदस्ती ऋषभजी ने प्रेस की सारी पुस्तकें 400 रूपये में जबरदस्ती मुझे बेच डाली और कहने लगे -- उनके विज्ञापन अपनी बुद्धि से बनाना । फिर चमत्कार देखना । "71

ऋषभजी के सह-संपादक श्री. संपतराय पुरोहित ने उनके संदर्भ में बताते हुए कहा कि ऋषभचरण एक कर्मठ और अपने सपनों को साकार करने वाले व्यक्तियों में से थे । जिधर भी कुछ करते धारावाहिक करते और पीछे नहीं देखते थे । पत्रकार के रूप में उन्होंने अपने दोनों पत्रों ("चित्रपट" तथा " सचित्र दरबार") को अपनी लगन तथा प्रतिभा से उस स्थिति पर पहुंचा दिए थे कि पत्रकारिता से सम्बद्ध लोग उनसे ईर्ष्या करने लगे थे । ठीक उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अपने उपन्यासों, कहानियों तथा लेखों में तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को इस प्रकार अंकित किया कि हर कृति के साथ उनकी लोकप्रियता बढ़ती ही गई ।

ऋषभजी की प्रखर प्रतिभा व बुद्धि का वर्णन करते हुए सम्पतरायजी ने उनसे अपनी प्रथम भेंट के विषय में बताया है कि " आप निर्णय बहुत जल्दी लेते थे । उन दिनों मैं (सन् 1940-1942) "विश्वामित्र " डेइली में काम करता था । मुझे मालूम हुआ कि ऋषभजी को "सचित्र दरबार" के वाणिज्य विशेषांक के लिए एक उप-संपादक की आवश्यकता थी । मैंने आवेदनपत्र भेज दिया और मुझे बुलावा आ गया । उस दिन ऋषभजी का मौन-व्रत था । उन्होंने मुझे कुछ प्रूफ पढ़ने के लिए दिए , मैंने कार्य समाप्त करके दिखाया तो उन्होंने लिखा कि मुझे आपकी प्रकृति पसंद आई और बस नौकरी पक्की हो गई । ऋषभजी सनकी थे । जो बात दिमाग में आती थी , उसे करके ही छोड़ते थे । "72

उर्दू पत्रकार गोविन्द सहायजी का उनके सन्दर्भ में यह मत है -- " ऋषभजी में खुदगरजी और लालच नाम मात्र भी न था । वे अति उदार और शांत स्वभाव के व्यक्ति थे । " 73 ऋषभजी

के "चित्रपट" के सहयोगी संपादक श्री. सत्येन्द्र श्याम ने उनके विषय में बताया कि " ऋषभजी मानव और मित्र के रूप में वरदान थे । जहां आप दानी और विनीत थे , वहां अपने सम्मान के प्रति भी वे सजग थे । वे अत्यधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे । अपने सामने वे किसीकी शेखी चलने नहीं देते थे । वे एक अदम्य निष्ठा के प्रतीक थे । उनकी एक विशेषता यह भी थी कि आप बहुत जल्दी लिखते थे । एक-एक साल में आपने दो-दो उपन्यास भी लिखे । हिन्दी में आप अपने प्रकार के अकेले पत्रकार थे । पत्रकारिता की दृष्टि से "चित्रपट" पहला फिल्मी पत्र था जो लेखों के स्तर की दृष्टि से तथा छपाई की दृष्टि से उत्तम था । ऋषभजी अपने समय के प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय व्यक्ति थे । वे नव-युवकों को लेखन-कार्य में प्रोत्साहित करते थे । मेरे विचार से"सचित्र दरब ार" ही उनके पतन का कारण बना । दूसरे उन दिनों उग्रजी की किताबें बिक्री की दृष्टि से बहुत चल रही थी । उन्हें देखकर ऋषभजी की प्रतिभा भी गलत दिशा में मुड़ गई । " [74]

ऋषभजी के इन मित्रों , सहयोगियों तथा समकालीनों के संस्मरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि ऋषभजी एक सच्चे मनुष्य थे । कुछ मानव-सहज कमजोरियों के रहते हुए भी उनकी मानवता और सत्यनिष्ठा को हम बुलन्दियों को छुती हुई पाते हैं । कर्मठता और प्रयोगशीलता आपके चरित्र की पहचान बन गई हैं । उदारता , करुणा , न्याय , सत्य की पक्षधरता , दानशीलता , महत्वाकांक्षा , जीवट , संघर्षशीलता , सृजनशीलता , जुझारूपन प्रभृति गुणों से मंडित उनके साहित्यिक को यदि अंतिम बार की सफलता हासिल हुई होती तो हिन्दी को और भी कई अनमोल कृतियों का उपहार मिलता ।

====== XXXXX ======

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ समीक्षायण : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 154 ।

§2§ द्रष्टव्य : "प्रेमचन्द-युग का हिन्दी उपन्यास " : डा. मोहनलाल रत्नाकर : पृ. 53 ।

§3§ द्रष्टव्य : " युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : डा पारूकांत देसाई : पृ. 8 ।

§4§ द्रष्टव्य : " ऋषभचरण जैन : जीवन झांकी " : जैन परिवार से प्राप्त : पृ. 4 ।

§5§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 4 ।

§6§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 4 ।

§7§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 6-7 ।

§8§ "कलम का सिपाही " : अमृतराय : पृ. 25 ।

§9§ चम्पाकली : ऋषभचरण जैन : पृ. 15 ।

§10§ पत्रिका : " नया जीवन " : लेख : " ऋषभचरण जैन का जीवन: एक चढ़ाव , एक उतार " : ले. बालमुकुन्द मिश्र : मार्च-1952 : पृ. 4 ।

§11§ "ऋषभचरण जैन : जीवन-झांकी " : पृ. 5-6 ।

§12§ वही : पृ. 5 ।

§13§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : दिनांक - 16-5-93 ।

§14§ लेखक के चित्रों से तथा उनके घर-परिवारवालों व समकालीन लेखकों के कथन से इस तथ्य का उद्घाटन होता है ।

§15§ लेख : " ऋषभजी ने मुझे लेखक बनाया " : जैनेन्द्र : धर्मयुग : 29 सितम्बर : 1985 : प्रस्तुति : हरिश पxxxxxx नवल : पृ. 38 ।

§16§ " सूखे सेमल के वृन्तों पर " : पाण्डुलिपि : डा. पारूकांत देसाई ।

§17§ "मैंने स्मृति के दीप जलाये " : रामनाथ सुमन : पृ. 126 ।

§18§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : दिनांक : 16-5-93 ।

§19§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : दिनांक : 16-5-93 ।

§20§ द्रष्टव्य : " ऋषभचरण जैन : जीवन-झांकी " : पृ. 5 ।

§21§ जैनेन्द्रकुमार : "तपोभूमि" में व्यक्त अभिप्राय : 13-8-85 ।

§22§ "सूखे सेमल के वृन्तों पर " : पाण्डुलिपि : डा. पारूकांत देसाई ।

§23§ "समीक्षायण " : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 21 ।

§24§ "ऋषभचरण जैन : जीवन-झांकी " : पृ. 7-8 ।

§25§ "भाई" : ऋषभचरण जैन : भूमिका से ।

§26§ "ऋषभचरण जैन : जीवन-झांकी " : पृ. 7 ।

§27§ "मानव-धर्म के दस मूल मंत्र " : ऋषभचरण जैन : सं. जुलाई-1942 ।

§28§ वही : पृ. 128-129 ।

§29§ डा. पारूकांत देसाई : "बिजली के फूल " : काव्य-संग्रह : भूमिका ।

§30§ द्रष्टव्य : " काव्य के रूप " : बाबू गुलाबराय : पृ. 196 ।

§31§ लेख : डा. भूपत वडोदरिया : घरे-बाहिरे" स्तंभ : संदेश : रविवासरीय विशेष पूर्ति : 31-7-94 : पृ. 6 ।

§32§ चित्रलेखा : मार्च : 1992 : पृ. 25 ।

§33§ त्यागपत्र : जैनेन्द्र : पृ. 64 ।

§34§ वही : पृ. 64 ।

§35§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : दिनांक : 16-5-93 ।

§36§ धर्मयुग : 29 सितम्बर : 1985 : लेख - " ऋषभजी ने मुझे लेखक बनाया " : प्रस्तुति- हरिश नवल : पृ. 38 ।

§37§ द्रष्टव्य : पत्रिका : " नया-जीवन" : लेख- " ऋषभचरण जैन का जीवन : एक चढ़ाव, एक उतार " : ले. बालमुकुन्द मिश्र : मार्च-1952 : पृ. 42 ।

§38§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : दिनांक : 16-5-93 ।

§39§ वही ।

§40§ वही ।

§41§ "चित्रपट" : 5 सितम्बर 1936 : लेख- " सच्चरित्र समाज और वेश्यायें : श्री. कुमुद विद्यालंकार : पृ. 27 ।

§42§ "हंस" : अगस्त-1994 : भूमिका : राजेन्द्र यादव ।

§43§ "लज्जा " : तसलीमा नसरीन : पृ. 6-7 ।

§44§ धर्मयुग : 1 सितम्बर : 1994 : पृ. 9 ।

§45§ लेख - " श्री. चम्पतराय बार एट लो " : लेखिका - श्रीमती त्रिशलाकुमारी : " श्री तन्सुखराम स्मृति-ग्रंथ " : पृ. 134 ।

§46§ 44 के अनुसार : पृ. 9 ।

§47§ मानव-धर्म के दस मूल-मंत्र : ऋषभचरण जैन : सं. जुलाई - 1942 ।

§48§ अपराजिता : आचार्य चतुरसेन शास्त्री : पृ. 64 ।

§49§ आभा : आचार्य चतुरसेन शास्त्री : पृ. 54 ।

§50§ सेवासदन : प्रेमचन्द : पृ. 126 ।

§51§ वही : पृ. 192 ।

§52§ " प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार " : डा. मन्मथनाथ गुप्त : पृ. 282-283 ।

§53§ देखिए : "हंस " : अगस्त-1994 : पृ. 90 ।

§54§ वही : पृ. 90 ।

§55§ यथा - " भाई" उपन्यास की दुर्गा ।

§56§ यथा - "रहस्यमयी " उपन्यास की सुखदेवी ।

§57§ "रहस्यमयी" : ऋषभचरण जैन : पृ. 68 ।

§58§ "चम्पाकली" : ऋषभचरण जैन : पृ. 30-31 ।

§59§ "दिल्ली का व्यभिचार " : ऋषभचरण जैन : पृ. 78 ।

§60§ वही : पृ. 4 ।

§60-ए§ : यथा - "वेश्यापुत्र" उपन्यास की कमला ।

§61§ "देसाई-सतसई" का एक दोहा ।

§62§ शोध-छात्रा की व्यक्तिशः मुलाकात : 16-5-93 ।

§63§ मानसमाला : पारूकांत देसाई : पृ. 16 ।

§64§ पत्रिका : " नया जीवन " : मार्च- 1952 ।

§65§xxx

§65§ शोध-छात्रा ने ऋषभचरण जैन के सुपुत्र श्री. ज्ञान प्रकाशजी § श्री. दिग्दर्शन जैन § से दिनांक 16-5-93 , 17-5-93 और 18-5-93 को व्यक्तिशः मुलाकात की । उन्होंने ऋषभजी के मित्र तथा समकालीनों के सन्दर्भ में जो विवरण दिया उसके अनुसार ।

§66§ वही ।

§67§ वही ।

§68§ वही ।

§69§ "गुजराती निबंधमाला" : नवनीत प्रकाशन : पृ. 128 ।

§70§ "65" के अनुसार ।

§71§ वही ।

§72§ वही ।

§73§ वही ।

§74§ वही ।

========= XXXXXXXXX =========

Chapter-3

अध्याय : तीन : ऋषभचरण जैन : कृतित्व

:: अध्याय : तीन ::

:: ऋषभचरण जैन : कृतित्व ::

ऋषभजी का साहित्यिक-सर्जनाकाल , दूसरे शब्दों में कहें तो कृतित्व-काल , सन् 1925 से सन् 1944 तक माना जा सकता है । यद्यपि सन् 1945 के पश्चात् अपनी विक्षिप्त अवस्था में भी वे कुछ -न- कुछ लिखते रहे , परंतु अव्यवस्थित एवं असंतुलित होने के कारण उसे प्रस्तुत प्रबंध के दायरे से दूर रखने का उपक्रम रखा गया है जिसे उचित ही समझा जायेगा । पहले निर्दिष्ट किया गया है कि ऋषभजी में हमें एक बहुमुखी साहित्यकार की प्रतिभा के दर्शन होते हैं , अतः प्रस्तुत अध्याय में उनके कृतित्व के नाना पक्षों पर विचार किया गया है ।

साहित्य और समाज परस्पराश्रित होते हैं । उनमें आदान-प्रदान की प्रक्रिया अविरत गति से चलती ही रहती है । साहित्य समाज को परिचालित करता है , तो समाज भी साहित्यिक चिंतन व सोच में निरंतर नये परिमाणों को जोड़ता रहता है । बाबू श्यामसुंदरदास ने

इस संदर्भ में ठीक ही कहा है — " सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है, उसीके सज्जित भण्डार का नाम साहित्य है । "[1] अतः कहा जा सकता है कि साहित्य समाज की चेतना में सांस लेता है । साहित्य उसके रचयिता के भावों का समाज में प्रसार करता है, परंतु यह भी उतना ही सच है कि रचनाकार के उन भावों की निर्मिति में समाज तथा उसकी नाना गतिविधियां कारण-भूत होती हैं ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी साहित्य के सामाजिक सरोकारों को स्वीकारते हुए भी साहित्य की स्वतंत्र सत्ता की बात करते हैं — " तात्पर्य यह कि साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचारधाराओं का — वादों का संबंध मानते हैं, किंतु अनुवर्ती रूप में । साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है । ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं; नियामक और अधिकारी नहीं । साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन-सापेक्ष्य है । जीवन-निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रांति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धान्त है । "[2] परंतु यहां भी इतना तो असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य वाजपेयी साहित्य के सामाजिक सरोकारों को नकारते नहीं है, बल्कि वे समाज को साहित्य का उपादान या हेतु मानते हैं ।

आचार्य विनयमोहन शर्मा साहित्य-सर्जन के लिए किसी वाद-विशेष में न पड़ते हुए सामाजिक-जीवन के ईमानदार निरीक्षण-परीक्षण को महत्वपूर्ण मानते हैं । " रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार गोर्की के साहित्य में स्पंदन है क्योंकि इसमें अभिव्यक्ति और जीवन में ~~xxxxxx~~ तादात्म्य रहा है । उसका साहित्य गतिशील है । सन् 1950 ई. के नोबल पुरस्कार विजेता विलियम फोकनर के साहित्य में यही बात पायी जाती है । वह अपने देखे और भोगे हुए ~~xx~~ जीवन को विशेष महत्त्व देता है । इसलिए

उसके उपन्यासों में पात्र बार-बार हमारी आँखों के सामने आते हैं । जान पड़ता है , उपन्यासकार जिन व्यक्तियों के बीच चलता-फिरता है , उनको ही वह भिन्न-भिन्न रंगों में साहित्य में उतारता रहता है — चित्रित करता रहता है । ईमानदारी साहित्य को जीवित रखती है । साहित्य-सृजन का एक ही सूत्र है — एक ही मंत्र है — वह है , " मनुष्य के जीवन को समझिये । अपने मित्रों और परिचितों की प्रवृत्तियों का अध्ययन कीजिए ।" बस , साहित्य-निर्माण सरल हो जायगा । अपने पात्रों की खोज में बड़े-बड़े ग्रंथों के पन्ने उलटना व्यर्थ है । सुबह से शाम तक हमारी आँखों के सामने चलता फिरता जीवन पढ़ कर भी यदि हम साहित्य सृष्ट न कर सकें तो समझ लेना चाहिए कि हम में ही कहीं कमी है । या तो हम शब्दों के दरिद्र हैं या हमारी निरीक्षण-शक्ति शिथिल है । यहाँ यह कहने का आशय नहीं है कि महान साहित्यकारों के ग्रंथों का अध्ययन अपेक्षित नहीं है । मेरा आशय यही है कि स्वयं अनुभूत तथ्य साहित्य को अधिक प्राणवान् बनाता है । यों तो , दीपक से दीपक जलता है , एक प्रतिभा दूसरे में आलोक भरती है , पर परावलंबन एक हद तक ही वांछनीय है । "[3]

परिवर्तित सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ जन-जीवन को भी प्रभावित करती हैं , अतः ऋषभजी के कृतित्व के मर्म को पाने के लिए उनके समकालीन परिवेश को भी समझना होगा । अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण देश के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में कई बदलाव आये । जीवन में एक तरफ जहाँ कुछ विषमताएँ सामने आयीं , वहाँ दूसरी तरफ कुछ गतिशीलता भी आई । शासन-संबंधी सुधार , वैज्ञानिक आविष्कार , मुद्रण-कला का आविष्कार , पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार , अंग्रेजी-साहित्य का परिचय , साहित्यिक पुनरुत्थान आदि के कारण समाज , राजनीति , धर्म प्रभृति क्षेत्रों में एक नयी चेतना आई । राजनीति की भाँति धार्मिक क्षेत्र में भी कई सुधारवादी आंदोलन हुए जिसने समाज-जीवन की छवि को परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । स्वामी

दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य-समाज (सन् 1972), राजा राममोहन राय द्वारा प्रसारित ब्रह्मोसमाज, रानडे द्वारा प्रसारित प्रार्थना समाज तथा थियोसोफी आंदोलन जैसे सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने तत्कालीन साहित्य को अनेकविध दृष्टि से प्रभावित किया है ।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस काल का महत्व असंदिग्ध है । समाज में उत्प्रेरित बहुमुखी प्रवृत्तियों तथा नाना धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप भाषा में स्पष्टतः एक अभिव्यक्तिगत आवश्यकता का अनुभव होने लगा, परिणामस्वरूप गद्य विधा का विकास अप्रत्याशित रूप से होने लगा । दूसरे वैज्ञानिक विचारधारा का भी चिंतन के धरातल पर स्पष्टतः स्वीकार लक्षित होता है जिसका प्रवेश साहित्य के क्षेत्र में होने लगता है । अब लेखकों व कवियों का दृष्टिकोण रूढ़िग्रस्त व एकांगी न रहकर उसकी चेतना में सर्वदेशीयता, व्यापकता एवं मानवता दृष्टिगत होती है जिसके मूल में राजनीतिक परिवर्तन तथा सामाजिक-धार्मिक सुधारों के प्रति परिवर्द्धित सजगता है । साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है । इस सन्दर्भ में बाबू गुलाबराय कहते हैं — " जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक-यंत्र (रिसीवर) आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युततरंगों को पकड़कर उनको भाषित शब्द का आकार देती है ठीक उसी प्रकार कवि या लेखक अपने समय के वायु मंडल में घूमते हुए विचारों को पकड़कर मुखरित कर देता है । "[4]

साहित्यकार अपने युग की गतिमान परिस्थितियों का उद्घोषक कैसे बनता है उस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निम्नलिखित मत उल्लेखनीय रहेगा — " समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं । "[5]

अतः ऋषभचरण जैन के कृतित्व के उचित मूल्यांकन हेतु तत्कालीन परिस्थितियों का विहंगावलोकन आवश्यक हो जाता है । ऋषभजी के

साहित्यिक कृतित्व का प्रारंभ सन् 1925 से होता है । बारह वर्ष की अवस्था में लिखित उनकी सर्वप्रथम कहानी " मिट्टी के रुपये " नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है । यह युग गांधीजी के विचारों से ओतप्रोत-सा दिखता है । सुशिक्षित नेताओं , बैरिस्टरों , प्राध्यापकों , लेखकों व मनीषियों से लेकर अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित ग्रामीण जनता तक को गांधीजी के सिद्धान्तों ने प्रभावित किया था । देश के इतिहास में प्रथम बार यह अहसास जगा समस्त राष्ट्र एक है । राष्ट्रीय एकता का यह नारा कदाचित् इतने विस्तृत धरातल पर पहली बार गुंजित हुआ । भारतीय धर्म व संस्कृति पर भी महात्मा गांधी के चिंतन का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है । अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों में जो खाई पैदा कर दी थी , उसे पाटनेका भगीरथ कार्य भी यह युग-पुरुष आजीवन करते रहे । गांधीजी कु बहुआयामी प्रवृत्तियों में हरिजन-उद्धार की प्रवृत्ति सर्वोपरि थी । इसके फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था पर भी व्याघात पहुंचा । प्राचीनता के प्रति व्यामोह कुछ कम हुआ । सन् 1936 में सेवाग्राम आश्रम की स्थापना हुई । सादा जीवन और उच्च विचार वाले पुरातन आदर्श को आधुनिक दृष्टि-संपन्न लोगों ने विचारपूर्वक अपनाया । स्वतंत्रता की भावना चारों ओर प्रज्वलित होने लगी । इन सभी बातों ने भारत के तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक जीवन में एक निश्चित गतिशीलता उत्पन्न कर दी थी , जिसका निश्चित प्रभाव साहित्य में परिलक्षित किया जा सकता है । वैज्ञानिक आविष्कारों तथा आद्योगिक-क्रांति से उद्भूत नगरीकरण से जीवन प्रकृति से दूर होता गया । धनवानों और गरीबों के बीच की खाई और भी चौड़ी होती गई । समाज स्पष्टतया दो वर्गों में बंट गया -- शोषक और शोषित ।

आधुनिक काल के प्रारंभिक नव-जागरण का बड़ा ही दूरंगामी प्रभाव साहित्य व समाज पर पड़ा है । अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप भारत

की शिक्षित प्रजा के प्रतिनिधि पश्चिम के उदार विचारों से प्रभावित हो रहे थे । इधर 19 वीं शताब्दी के आरंभ में स्थिति यह थी कि प्रायः भारत के सभी नये-पुराने धर्म जड़ रूढ़ियों, आडम्बरों , अन्ध-विश्वासों तथा अर्थहीन-तर्कहीन शुष्क कर्मकाण्डों की भ्रांत मोहजाल में फंसे हुए थे । पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के आलोक से भारतीय चिंतकों एवं मनीषियों को उनकी साम्प्रतिक दीन-हीन अवस्था का वास्तविक ज्ञान हुआ और उन्होंने धर्म व समाज के वास्तविक जीवन-मूल्यों की सही पहचान करवाई ।

आलोच्य लेखक की कालावधि में या उसके पूर्व हिन्दी भाषा विशेषतः उसके गद्य का कल्पनातीत विकास हुआ जिसमें पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता । " भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल के लेखकों पर ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव दिखता है । उनकी कविता की भाषा तो ब्रजभाषा ही थी । व्याकरण की भी अनेक गड़बड़ियां मिलती हैं । पंडित श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली आंदोलन चलाकर जहां गद्य-भाषा तथा काव्य-भाषा के भेद को मिटाया वहां पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी गद्य को व्याकरण-सम्मत करके उसे परिनिष्ठित एवं परिमार्जित करने का भगीरथ कार्य किया । ' सरस्वती ' पत्रिका के द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों को बनाया । " [6]

सन् 1917 की रूस क्रांति ने मार्क्सवादी विचारों को पनपने का एक सुनहरा मौका प्रदान किया । इसने भारतीय साहित्य में प्रगतिवादी आंदोलन को जन्म दिया । स्वच्छंदतावाद , यथार्थवाद तथा मनोविश्लेषणवाद जैसी पश्चिमी कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर लक्षित किया जा सकता है । संस्कृति और समाज का अभिन्न संबंध है । कह सकते हैं कि किसी मानव-समाज के विचारों , उसकी परंपराओं के परिष्कार एवं विकास की स्थिति ही उसकी संस्कृति है । आलोच्य कालसीमा में सन् 1920 से 1947 तक धार्मिक एवं सामाजिक जागृति के साथ-साथ सांस्कृतिक जागरण को भी

दृष्टिपथ में रखा जा सकता है । औद्योगिक क्रांति, सामन्ती व्यवस्था का नाश , वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वरीयता , अंग्रेजी-शिक्षा का प्रचार-प्रसार, मुद्रणकला के विकास प्रभृति कारणों से भारतीय समाज में बौद्धिक-जागरण की प्रक्रिया को क्षिप्रता प्राप्त हुई । भारतीय साहित्य में उक्त प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव मिलता है । अंग्रेज विद्वानों द्वारा जब संस्कृत का अध्ययन होने लगा तब हमारे यहां के लोगों में भी अपनी भाषा तथा साहित्य को नये ढंग से सोचने-समझने की प्रवृत्ति विकसित हुई । वैज्ञानिक ढंग से मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन होने लगे , जिसके फलस्वरूप हमारा गौरवमय अतीत भी प्रकाश में आने लगा ।[7] ब्रह्मोसमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण-मिशन , नामदारी तथा सिंहसभा आदि सुधारवादी संस्थाओं व आंदोलनों ने भी परंपरागत भारतीय मानस को परिवर्तित किया । फलतः जीवन और जगत के प्रति भारतीयों के दृष्टिकोण में एक प्रकार की व्यापकता का समावेश हुआ ।

गांधीवादी दर्शन ने भी इस युग की सांस्कृतिक चेतना में गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित किया है जिसमें सत्य , अहिंसा, सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व की भावना प्रभृति निहित हैं । इस गांधीवादी दर्शन का मूल्यांकन करते हुए नेहरूजी ठीक ही कहते हैं -- " मैं जिस बात का आदर करता था वह था उस आंदोलन का नैतिक और सदाचार संबंधी पहलू तथा सत्याग्रह । राजनीति को आध्यात्मिकता के संकीर्ण धार्मिक मानों में के नये सांचे में ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ । "[8]

डा. योगेन्द्र बख्शी के मतानुसार " गांधीजी के सत्य , अहिंसा, सत्याग्रह एवं सुधारवादी सिद्धान्त मूल भारतीय संस्कृति से मेल खाने के कारण भारतीय जन-जन की धमनियों में प्रवाहित हो गए । "[9] फलतः स्त्री-शिक्षा , विधवा-विवाह , जाति-पांति के भेदभाव का विरोध , हिन्दू-मुस्लिम एकता , भौतिक-संपत्ति का मोहत्याग , सामाजिक विषमता को दूर करने के प्रयत्न , गो-रक्षण प्रवृत्ति जैसी नाना प्रवृत्तियां समाज में चल रही थीं और साहित्यकार भी अपनी लेखनी द्वारा एतद्विषयक विचारों को लोगों के सम्मुख रख रहे थे । साहित्यिक दृष्टि से सन् 1920 तक भारतीय भाषाओं के साहित्य में नवजागरण की प्रवृत्ति

विकसित हो चुकी थी । इस युग के साहित्य का निर्देशन करने वाली चिंतनधाराओं में मार्क्सवादी चिन्तनधारा , फ्रायडवादी चिन्तनधारा , गांधीवादी विचारधारा प्रभृति को गिनाया जा सकता है । इनके अति-रिक्त स्वामी दयानंद सरस्वती , राजा राममोहन राय , ईश्वरचन्द्र विद्यासागर , गोपाल कृष्ण गोखले , रानडे , ज्योतिबा फूले , अरविंद, विवेकानंद , युंग , एडलर जैसे चिन्तकोंने भी इस युगधारा को प्रभावित किया है ।

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व ही ऐसा चुंबकीय था कि उस समय का शायद ही कोई लेखक उनसे अप्रभावित रहा होगा । ऋषभजी भी उनसे अत्यन्त प्रभावित थे । "सत्याग्रह" , "हड़ताल" तथा "भाई" जैसी रचनाएं उनके प्रभाव को द्योतित करती है । गांधीजी के अहिंसात्मक आंदोलनों में हिस्सा लेने के कारण ऋषभजी को अपनी पढ़ाई भी छोड़ देनी पड़ी थी । इण्टरमीडियेट की परीक्षा बीच में ही छोड़कर वे चले गए थे । दूसरी तरफ सन् 1930 के आसपास ऋषभजी का भारत के प्रमुख क्रांतिकारियों से भी गहरा संबंध रहा है । उन्होंने दिल्ली स्थित युगधाम की आधार शिला सन् 1936 में ख्यातिलब्ध मानवेन्द्र राय से रखवाई थी तथा सन् 1941-42 के आसपास वे स्वातंत्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर की राजनीति के सम्पर्क में भी आए थे ।

आर्यसमाजी स्वामी श्रद्धानंद से भी आप काफी प्रभावित थे । सामाजिक कुरीतियों को दूर करना , अंध-विश्वासों तथा पाखंडों और धर्म के नाम पर चलने वाले ढोंग-ढकोसलों का विरोध करना इत्यादि आर्यसमाज की प्रमुख प्रवृत्तियां थीं । इनसे प्रभावित होने के कारण ही ऋषभजी ने दिगम्बरों का विरोध किया । वेश्याओं की समस्या पर भी आपने काफी सोच-विचार किया है और अपनी लेखनी के बल पर उनका समाकलन भी किया है । "चम्पाकली" , " जनानी सवारियां" तथा "दिल्ली का कलेक " आदि उपन्यासों में इन्हीं समस्याओं को उकेरा गया है । उस काल के देशकाल का यथार्थ चित्रण उस युग के कुछ प्रातिनिधिक चरित्रों के आकलन द्वारा करवाने में ऋषभजी को अपेक्षाकृत अधिक सफलता

मिली है ।

राजनीति की भांति हिन्दी साहित्य की दृष्टि से सन् 1936 का समय प्रेमचन्दकाल की परिधि में आता है और हिन्दी का शायद ही ऐसा कोई लेखक मिलेगा जो प्रेमचन्द के लेखन से प्रभावित न हुआ हो । अतः यह स्वाभाविक ही कहा जायेगा कि ऋषभजी भी प्रेमचन्द से प्रभावित हुए थे और उनकी कतिपय रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । वैसे भी मुंशी प्रेमचन्द तथा महात्मा गांधी के व्यक्तित्व तथा चिंतनधारा में काफी समानता मिलती है क्योंकि प्रेमचन्द भी गांधीजी से बहुत ही प्रभावित थे । डा. पारूकांत देसाई इस संदर्भ में लिखते हैं -- " महात्मा गांधी और मुंशी प्रेमचन्द उभय का क्रमशः भारतीय राजनीति अौर एवं हिन्दी साहित्य में प्रवेश अनेक दृष्टियों से समानता रखता है । दोनों करीब-करीब एक ही साथ आते हैं । दोनों ने कांग्रेस तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को बहुआयामी एवं विस्तृत फलक दिया -- गांधीजी ने कांग्रेस को तथा प्रेमचन्दजी ने हिन्दी उपन्यास को । दोनों की दृष्टि मानवतावादी थी , अतः दोनों ही भारत के सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आये । दोनों ने भारत का उद्धार ग्रामोद्धार में देखा । स्त्री एवं दलित कृषक वर्ग की उन्नति के लिए दोनों ने आजीवन कार्य किया । दोनों हिन्दू-मुस्लीम एकता के प्रखर हिमायती थे । आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रेमचन्द की हिन्दी ही गांधी की हिन्दुस्तानी थी । भारतीय समाज एवं साहित्य के चौमुखी विकास के लिए दोनों ने वैयक्तिक सुखों का सर्वथा त्याग किया । दोनों ने देश व साहित्य के सम्मुख परिवार को नगण्य समझा । दोनों का जीवन साधना व तपश्चर्या का अद्वितीय उदाहरण पेश करता है । "[9]

डा. सुरेश सिनहा ने भी " हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास " में महात्मा गांधी और प्रेमचन्द के व्यक्तित्वों की तुलना की है । " प्रेमचन्द और गांधी यह दोनों ही समानार्थक शब्द माने जा सकते हैं । एक उन्हीं धारणाओं की अभिव्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में

करता है , दूसरा साहित्य में । दोनों में समर्थता भी समान है , दोनों में दुर्बलताऐं भी समान हैं । गरज यह कि दोनों की सीमाएं और संभावनाएं एक-सी हैं , हत्या दोनों की हुई , सामाजिक विषमताओं और यन्त्रणाओं ने प्रेमचन्द की हत्या की , जिनमें वे धीरे-धीरे 'स्व' को 'पर' के लिए घोलते रहे , दोनों ही मानवता के अपने शीर्ष स्थान पर थे और दोनों की हत्या हमने मानवता का दम भरने वाले अपने ही हाथों से की । पर न हम राजनीति के क्षेत्र में गांधीजी को ही भुला सकते हैं और न साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द को ही भुला सके । संयोग यह कि न हम राजनीति के क्षेत्र में दूसरा गांधी ही पा सके और न साहित्य के क्षेत्र में दूसरा प्रेमचन्द ही , दोनों ही अमर हैं - अजर हैं । " 10

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऋषभजी के कृतित्व का निर्माण करने वाले कारक कई प्रकार के रहे हैं । तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व साहित्यिक स्थितियां भी उसमें कारणभूत रही हैं । ऋषभजी की प्रतिभा बहुमुखी रही है । एक सफल कथाकार के रूप में जहां उन्होंने कई उपन्यास व कहानियों का सृजन किया है , वहां अच्छे पत्रकार , आलोचक व प्रकाशक के रूप में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है । फिर भी इन सबमें उनका कथाकार रूप ही अधिक कारगर हुआ है , ऐसा कहा जा सकता है । कुल मिलाकर उन्होंने 25 मौलिक उपन्यासों का प्रणयन किया है । इनके अतिरिक्त उन्होंने लगभग सात जितने अनूदित उपन्यास भी दिए हैं । उनके मौलिक तथा अनूदित उपन्यासों की तालिका नीचे दी जा रही है --

(अ) मौलिक उपन्यास :

1. राजकुमार भोज /1926/
2. जादूई पुतली / 1926/
3. भीषण डाकू /1926/
4. पैसे का साथी /1927/
5. दिल्ली का व्यभिचार /1928/

6. वेश्यापुत्र /1929/
7. मास्टर साहब /1929/
8. सत्याग्रह /1930/
9. गदर /1930/
10. भाई /1931/
11. रहस्यमयी /1931/
12. भाग्य / 1931/
13. दिल्ली का कलंक /1936/
14. दुराचार के अड्डे /1936/
15. जनानी सवारियां /1936/
16. मन्दिरदीप /1936/
17. तपोभूमि /1936/
18. चंपाकली /1937/
19. हिज हाइनेस /1937/
20. हर हाइनेस /1938/
21. मयखाना /1938/
22. तीन इक्के /1938/
23. हत्यारा /अपूर्ण-/
24. पश्चिम / अपूर्ण /
25. अन्त / अप्रकाशित/[11]

उपरोक्त मौलिक उपन्यासों के उपरांत आचार्यजी ने कुछ उपन्यासों के अनुवाद का उपहार भी हिन्दी साहित्य को दिया है । फ्रेंच लेखक एलेक्जेण्डर ड्यूमा उनके प्रिय कथाकार हैं, अतः उन्होंने ड्यूमा के अंग्रेजी में प्रकाशित उपन्यासों के अनुवाद दिए हैं । आपके अनूदित उपन्यास इस प्रकार हैं :-

§आ§ अनूदित उपन्यास :

1. कैदी /1931/ - मू.ले. एलेक्जेण्डर ड्यूमा : द ब्लेक ट्यूलिप
2. कण्ठहार /1931/- " " : द क्वीन्स नेकलेस

3. षडयन्त्रकारी /1931/: एलेक्जेण्डर ड्यूमा : ली चेवल फार डोमिशन राउग
4. वह कौन थी /1935/ : " " : द टू दीनास
5. महापाप /1933/ : टॉल्स्टॉय : द क्रेकुत्जर सोनाटन
6. देवदूत / 1933/ : " : पोलिकुश्का
7. अफीम का अड्डा / 1936/ : आर्थर कानन डायल के जासूसी उपन्यास से

साहित्य-जगत में प्रायः देखा गया है कि उपन्यासकार कहानीकार भी होता है, बल्कि उसके लेखन का प्रारंभ ही कहानीकार के रूप में होता है। ऋषभजी की प्रथम कहानी — " मिट्टी के रूपये " — सन् 1925 में पं. रामचन्द्र शर्मा द्वारा संपादित महारथी पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। तब उनकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है। ऋषभजी की कहानियाँ निम्नलिखित पांच कहानी संग्रहों में प्रकाशित हैं :—

1. चांदनी रात
2. अनासक्त तथा अन्य कहानियाँ
3. बुर्केवाली तथा अन्य कहानियाँ
4. हड़ताल तथा अन्य कहानियाँ
5. बिखरे मोती

तत्कालीन कहानी-पत्रिकाओं में — सुधा, माया, सरस्वती, हंस तथा चित्रपट — उनकी कहानियाँ समय-समय पर बराबर प्रकाशित होती रही हैं। "चांदनी रात" कहानी संग्रह में कुल 12 कहानियाँ थीं जो "दान तथा अन्य कहानियाँ" शीर्षक से पुनः 1985 में प्रकाशित हुई है। इनकी पत्र-पत्रिकाओं में चर्चित कहानियों में "नरक के द्वार पर"[12], "पांच रूपये का कर्ज"[13], " सुधार की खोज "[14], " निग्रह "[15], "कौड़ियों का हार"[16], "अन्धी दुनिया"[17], "भय"[18], "रखैल"[19] आदि हैं। "दीपशिखा" ऋषभजी की एक लंबी अनूदित कहानी है। उसके

मूल लेखक हैं हाल केन और सन् 1934 में "चित्रपट" में यह कहानी धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई थी ।

पत्रकारिता एवं संपादन :

यह अनेक बार निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ऋषभजी की प्रतिभा बहुमुखी थी और मौलिक लेखन के अतिरिक्त पत्रकारिता तथा संपादन के क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । जिस प्रकार प्रेमचन्द ने "हंस" और "जागरण" जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक नवोदित लेखकों को प्रोत्साहित किया , ठीक उसी प्रकार ऋषभजी ने "चित्रपट" , "रूपवाणी" तथा "सचित्र दरबार" जैसी पत्रिकाओं के द्वारा अनेक लेखकों को बनाने और संवारने का कार्य किया । इन पत्रों में आपके लेख भी छपते थे । "चित्रपट" में आपके कई उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए हैं । इन पत्रिकाओं के माध्यम से आपने संपादन के क्षेत्र में भी नये और ऊँचे मानदण्ड स्थापित किए । यह आपकी संपादन-पटुता का उत्कृष्ट प्रमाण है कि आपने एक दृष्टिवान संपादक की भांति पुराने-स्थापित लेखकों की रचना ओं के साथ-साथ अनके नये कवि और लेखकों की रचनाओं को भी प्रकाशित करते रहे । किसी भी उत्तर-दायित्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति का यह सामाजिक धर्म हो जाता है कि वह अपने क्षेत्र में दूसरी पंक्ति (सेकण्ड लाइन) को तैयार करें ताकि उस क्षेत्र-विशेष की नैरन्तर्यता बनी रहे और कभी शून्याकाश की स्थिति का निर्माण न हो ।

ऋषभचरण जैन लेखक होने के साथ-साथ एक कुशल व्यापारी भी थे और उनका सामाजिक-ज्ञान व जागरूकता का गुण उन्हें निरंतर प्रेरित करता रहता था । शैशवकाल से ही आपमें पत्रकार बनने और प्रकाशन का कार्य करने की धुन थी , अतः पहला कार्य आपने यह किया कि अपना स्वयं का एक प्रेस स्थापित किया । आपके सहयोगी संपादक संपतलाल सदैव कहते रहते थे कि ऋषभचरण जैन एक कर्मठ और सपनों को साकार करने वाले लोगों में रहे हैं । अतः सन् 1932 में "चित्रपट" और "सचित्र दरबार" (1936) नामक दो पत्र पत्रिकाओं

का प्रकाशन व संपादन कार्य शुरू किया । "चित्रपट" सिनेमा साप्ताहिक था और "सचित्र दरबार" रियासती समाचारों के रूप में प्रकाशित होता था । इन दोनों पत्रों को अपनी लगन , कर्मठता और सपनों को साकार करने वाले उस विशिष्ट अंदाज से उन बुलंदियों पर पहुंचाया कि इस क्षेत्र के लोग आपसे ईर्ष्या करने लगे ।

सिने-पत्रिका होने के बावजूद "चित्रपट" में साहित्यिक व सामाजिक सुधार संबंधी लेखों को यथेष्ट स्थान मिलता था । उसमें जहां एक तरफ फिल्मों के समाचार रहते थे , वहां दूसरी तरफ "फिल्म की टेकनीक" पर भी वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण लेख रहते थे । ऋषभजी की दूरदेशी दृष्टि ने इसे भलीभांति भांप लिया था कि आने वाले युग में लेखक और पाठक के बीच सामंजस्य स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम पत्र-पत्रिकाएं ही रहेगा । अतः अपने समय की साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों को लेखा-जोखा भी उसमें रहता था । समकालीन समस्याओं व स्थितियों पर दृष्टिपात भी होता था । उस समय "रजतपट" (बम्बई), "सिनेमा" (कानपुर) , "रंगभूमि" (दिल्ली) तथा "हिंदी स्क्रीन" (बम्बई) जैसी फिल्मी-पत्रिकाएं प्रकाशित होती थीं ।"चित्रपट" ने उनमें एक नया कीर्तिमान स्थापित किया और उसके द्वारा पत्रकार-जगत में भी ऋषभजी का आधिपत्य स्थापित हो गया ।

"चित्रपट" की लोकप्रियता का संकेत तो एन.एन. धीर द्वारा लिखित एक अंग्रेजी लेख के इस अंश से ही हो जाता है -- " ऋषभचरण जैन वाज़ ए यंग नोवेलेस्टि हू ब्रोट आउट द पोप्युलर विकली फिल्म मैगेज़िन , द चित्रपट. धेर वाज़ हार्डली एनी क्रीएटिव राइटिंग इन इंग्लिश इन देहली आफ धीज़ डेज़. " अतः इस पत्र के द्वारा उन्हें धन और मान उभय की सम्प्राप्ति हुई [20] । इसी कारण फिल्म-जगत में भी उनकी धाक जमी तथा कलकत्ता , बम्बई जैसे व्यावसायिक व कला-क्षेत्रों के महानगरों से उनके संपर्क बढ़े । चंदुलाल शाह , रणजीत , सोहराब मोदी तथा विजय भट्ट जैसे फिल्म-जगत के दिग्गजों में उनका आदर बढ़ा, साथ ही उन्हें एक नये परिवेश का अनुभव भी प्राप्त हुआ, जिसका

प्रयोग उन्होंने अपने लेखन में किया है । "मयखाना" , "हर-हाइनेस" , हिज हाइनेस" प्रभृति उपन्यासों तथा "पांच रूपये का कर्ज " , "रखैल" , "स्वर्ग की देवी" , "नरक के द्वार पर" , "वे आंखें " , "नन्दू तथा रण्डी" , " मूंगे की मुदरी" आदि कहानियों में इन अनुभवों के आकलन को देखा जा सकता है ।

"चित्रपट" में हमारे मध्यवर्गीय समाज की सामाजिक , सांस्कृतिक , साहित्यिक और राजनीतिक चेतना को भी वाणी मिलती थी , यहां तक कि कांग्रेस के इतिहास की झांकी तक उसमें कहीं-कहीं प्रतिबिंबित हुई है । एक तरह से यह पत्रिका जन-साधारण में शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य करती थी । यहां शिक्षा के रूढ़ अर्थ को न लेकर उसके व्यापक अर्थ को ग्रहण किया गया है । इस संदर्भ में डा॰ हरप्रकाश गौड़ लिखते हैं — " चित्रपट ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान , भाषा , साहित्य, संस्कृति, इतिहास , पुरातत्व आदि विषयों पर रचनात्मक और वैचारिक लेख प्रकाशित कर हिन्दी साहित्य की अतुलनीय सेवा की है । प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्रजी को लिखे पत्र में इसकी प्रशंसा भी की है । " [21] चित्रपट के कारण हिन्दी को एक और लाभ भी हुआ । फिल्मी-जगत में तब उर्दू का बोल-बाला था । आज भी कमोबेश रूप में वही स्थिति पाई जाती है । अतः उर्दू के उस जमाने में "चित्रपट" के माध्यम से हिन्दी का प्रचार-प्रसार भी हुआ ।

सन् 1936 में ऋषभजी ने "सचित्र दरबार" नामक एक अन्य पत्रिका चलाई जिसमें देशी रियासतों में होने वाले अत्याचारों की खुली भर्त्सना होती थी । इसके द्वारा ऋषभजी ने भारतीय जनता के दोहरे शोषण को बेपर्द करने का एक महत्वपूर्ण कार्य उठाया था । देसी रियासतों की प्रजा दोहरे शोषण में पिसती जा रही थी — अंग्रेजों द्वारा शोषण और देसी नरेशों द्वारा शोषण । देसी रजवाड़ों से संबंधित नानाविध सामग्री इसमें रहती थी, जिसमें वहां की प्रजा की समस्याओं को भी उद्-घाटित किया जाता था । इस पत्र के कारण ऋषभजी अनेक राजा-

महाराजाओं के सम्पर्क में भी आये । उनके इन अनुभवों का परिपाक हमें "हिज हाइनेस" तथा "हर-हाइनेस" जैसे उपन्यासों में उपलब्ध होता है । अभिजात वर्ग के पात्रों में जो यथार्थता के दर्शन होते हैं उसका एक कारण यह भी है । इस पत्र को निकालने की प्रेरणा उन्हें सरदार दीवानसिंह से मिली थी । सरदार दीवानसिंह उर्दू में "रियासत" नामक एक पत्रिका निकालते थे जिसमें राजा-महाराजाओं के खिलाफ लिखकर उन्होंने काफी तरक्की की थी ।[22]

आपके सहयोगी सहसंपादक संपतलाल पुरोहितजी "सचित्र दरबार" के "वाणिज्य-विशेषांक" के सन्दर्भ में बताते हैं कि यह अंक इतना बड़ा था कि यदि दिल्ली से इसे बिछाना शुरू किया जाय तो ग्वालियर तक का सारा रास्ता पृष्ठों से ढक जाय ।[23] ऋषभजी के अथक परिश्रम के कारण राष्ट्रीय एवं सामाजिक नव्य-चेतना की वाहक यह पत्रिका अपने उद्‌देश्य में सफल हुई , तथापि इसके कारण ही उनका आर्थिक पतन भी हुआ । उसके कई कारण थे , जैसे ऋषभजी में राजा-महाराजाओं को ब्लैक-मेल करने का साहस व वृत्ति नहीं थी , ब्रिटीश राजाओं के विरूद्ध कोई सुनवाई नहीं होती थी , अपनी प्रतिरक्षा के लिए गुण्डे पाल नहीं सकते थे आदि आदि । फलतः कई बार उनकी हत्या तक के प्रयास हुए और अन्ततोगत्वा उसे बन्द कर देना पड़ा । इसके कारण उन्हें आर्थिक हानि भी उठानी पड़ी ।

आपने "रूपवाणी" नामक एक अंग्रेजी पत्र भी निकाला । इस पत्रिका के संपादक अजितप्रसाद जैन थे । वे इसके एक हिस्सेदार भी थे । वे ऋषभजी के बारे में बतलाते हैं कि ऋषभजी बहुत अनुभवी , प्रतिभाशाली तथा परिश्रमी व्यक्ति थे । आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था तथा आपमें काम करने की अटूट व अथक लगन थी ।[24]

ऋषभजी के इन पत्रों में हमें उनके जीवन की व्यक्तिगत अनुभूतियों के भी दर्शन होते हैं । इन पत्रों में उनकी शैली बड़ी ही धार-दार रहती थी । वे प्रेमचन्द की भांति उर्दू मिश्रित मुहावरेदार भाषा

का प्रयोग करते थे । उनकी भाषा बड़ी ही टकसाली हुआ करती थी । आप जब लिखने पर आते तो धाराप्रवाह लिखते जाते थे । कोई पुस्तक या लेख शुरू करते थे तो उसमें पूरी तरह निमग्न हो जाते थे । परन्तु जिन पत्रों के प्रकाशन से वे उन्नति के शिखर पर पहुँचे थे वे ही पत्र उनके पतन के कारण भी हुए और समय के साथ-साथ उनके हाथ से सरक गए । प्रेस भी बिक गया ।

निबंध-लेखन :

एक कुशल कथा-शिल्पी होने के साथ-साथ ऋषभजी एक ~~अच्छ~~ अच्छे निबंधकार भी थे । संस्कृत में कहा गया है -- " गद्यं कविनां निकषं वदन्ति । " इस पर यह कहा जा सकता है कि गद्य यदि कवियों की कसौटी है , तो निबंध गद्य की कसौटी है ।[25] निबंध में लेखक का निजी व्यक्तित्व भी झलकता है । तार्किकता और सुसंगतता जैसे गुण भी निबंध लेखक में होने चाहिए । यह बताया जा चुका है कि समय-समय पर आप पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे हैं । दूसरे आपने स्वयं भी कुछ पत्रिकाओं को चलाया , अतः संपादकीय के रूप में या स्वतंत्र लेखों के रूप में भी आपने अनेक समकालीन समस्याओं पर प्रकाश डाला । पर्दा-पद्धति , जात-पांत, छुआछूत , सड़े-गले रिवाज , अन्धविश्वास , धर्म के नाम पर चलने वाले ढोंग और ढकोसले , विधवा-समस्या , वेश्या-समस्या , हिन्दू-मुस्लीम एकता , बेमेल-विवाह , वृद्ध-विवाह जैसी समस्याओं पर आप निरंतर लिखते रहे हैं । "चित्रपट" में आपने मानव-धर्म संबंधी संपादकीय नोट भी लिखे हैं । "अर्जुन" पत्रिका में जैन मुनियों के विषय में आपका एक लेख प्रकाशित हुआ था -- " ये नंगे क्यों रहते हैं " ।

ऋषभचरण जैन का अनुवाद-लेखन :

किसी भी साहित्य के विकास में अनूदित साहित्य का भी अपना एक विशिष्ट योगदान होता है , इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता । प्रेमचन्द-पूर्वकाल में तो अनूदित उपन्यासों ने हिन्दी के मौलिक उपन्यास-लेखन का दिशा-निर्देश किया है । प्रेमचन्द-काल में भी अनूदित औपन्यासिक

साहित्य उपलब्ध होता है । स्वयं प्रेमचन्दजी ने भी टोल्स्टोय , कुप्रिन आदि के अनुवाद किए हैं । बीसवीं शताब्दी के आरंभ में रेनाल्ड , हेगर्ड, कानन डायल , मेरी कारेली , स्काट , कालिन्स आदि के उपन्यासों के अनूदित रूप मिलते हैं । इस क्षेत्र में बंगाली लेखकों को अधिक सफलता मिली है और अधिकांश हिन्दी लेखकों ने बंगला लेखकों के अनुवादों से अनुवाद किए हैं । उस समय सीधे अंग्रेजी से अनुवाद करने में कुछ ही लेखक सफल हुए हैं । ऋषभजी उनमें एक हैं ।

उन दिनों हिन्दी के उपन्यासकारों पर रेनाल्ड के उपन्यासों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है । रेनाल्ड के नग्न यथार्थवाद तथा घटना-वैचित्र्य से तत्कालीन लेखक सर्वाधिक प्रभावित हैं । किशोरीलाल कृत "लखनऊ की कब्र" रेनाल्ड के "लंदन-रहस्य" की अच्छी नकल है । इस काल के लेखकों में एक प्रवृत्ति यह भी मिलती है कि वे मूल आशय की रक्षा करते हुए उपन्यास के कथानक में कभी-कभी यथेष्ट परिवर्तन भी करते थे । उदाहरणस्वरूप राधाकृष्णदास के "स्वर्णलता" को लिया जा सकता है । उन्होंने न केवल उसे सुखान्त कर दिया है , बल्कि पात्रों के नाम भी बदल दिए हैं । ऋषभजी भी इस प्रकार की स्वतंत्रता लेते रहे हैं । उन्होंने एलेक्जेण्डर ड्यूमा , टोल्स्टोय तथा कानन डायल जैसे लेखकों की रचनाओं के अनुवाद दिए हैं यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है । ऋषभजी उपन्यासों का अनुवाद करते समय दो बातों का सविशेष ध्यान रखते हैं कि उनमें रोचकता और स्वाभाविकता के गुण बने रहने चाहिए । "कण्ठहार" की भूमिका में वे लिखते हैं -- " मेरा मत है रोचकता उपन्यास का प्रधान गुण है । इसके बाद चरित्र-चित्रण , भाव-विश्लेषण , मानव-हृदय के घात-प्रतिघात और शिक्षा अथवा आदर्श-रक्षा के प्रश्न आते हैं । उपन्यास के इन गुणों के अस्तित्व से मुझे आपत्ति नहीं , बल्कि मैं तो इन सब चीजों को जरूरी मानता हूँ । इन सब गुणों के बिना तो उपन्यास रोचक नहीं हो सकता । मेरे खयाल में ड्यूमा के उपन्यास इन सब गुणों से अलंकृत है । "[26] यही कारण है कि ऋषभजी ने प्रायः उनके अधिकांश उपन्यासों का अनुवाद किया है ।

अँग्रेजी हुकूमत का अभिशाप भारतीय समाज को झेलना पड़ा है, तो दूसरी तरफ अँग्रेजी शिक्षा के वरदान से भारतीय साहित्य समृद्ध भी हुआ है। अँग्रेजी के द्वारा हमें अँग्रेजी के साहित्य का परिचय मिला और उपन्यास जैसा एक साहित्य-रूप (जेनर) हमारे सामने आया। अतः अँग्रेजी के उपन्यासों का अनुवाद जिन्होंने किया है, उन्होंने भी हिन्दी की सेवा किसी-न-किसी तरह से की है ऐसा कहा जा सकता है। ऋषभचरण जैन भी उनमें से एक हैं। अनूदित उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम में क्या महत्त्व है, उसे प्रतिपादित करते हुए डा. श्रीकृष्णलाल लिखते हैं — " नये पाठक बनाने और जनता की रूचि को शिक्षित करने के अतिरिक्त इन अनुवादित उपन्यासों के उपन्यासकारों ने मौलिक उपन्यास लिखते समय उनके नमूने भी उपस्थित किए। हिन्दी में उपन्यास लिखने की कोई परंपरा न थी। इस कारण हमारे उपन्यासकारों को प्रेरणा और अनुकरण के लिए इन्हीं अनुवादित उपन्यासों की शरण लेनी पड़ी। फिर इन्हीं अनुवादित उपन्यासों ने साहित्यिक रूप और उपादान भी दिए। " [27]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी साहित्य के विकास में अनुवाद के योगदान को स्पष्ट करते हुए कहा है — " उच्च श्रेणी के साहित्य और काव्य से उसका परिचय कराकर उसे उन्नत पथ की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा देने के लिए अनुवाद का आश्रय ग्रहण किया जाता है। " [28] ऋषभजी ने भी अनुवाद की आवश्यकता पर जोर दिया है। उनके विचार से " हमारे लेखक अधिक से अधिक मात्रा में पाश्चात्य साहित्य के संपर्क में आए, इससे न केवल उनका दृष्टिकोण अधिक उदार और अधिक विस्तृत होगा, परन्तु उन्हें साहित्य के नवीन रूपों को सीखने, उनके अनुसार हिन्दी में xxxx कार्य करने के लिए पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त होगा। " [29]

वस्तुतः अनुवादों के द्वारा हम दूसरे साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं का परिचय प्राप्त करते हैं। अनुवाद हमें तुलना-दृष्टि देते हैं। अँग्रेजी के अनुवादों के जरिये जहाँ हम विश्व-साहित्य को पा सकते हैं, वहाँ भारतीय भाषाओं की xxxxxx उत्तमोत्तम रचनाओं के हिन्दी

अनुवादों से हम भारतीय भाषाओं के साहित्य को समझ सकते हैं और उस समझ से अपना दृष्टि-विस्तार साध सकते हैं । अतः अनुवाद-प्रक्रिया का उचित मूल्यांकन होना चाहिए और ऐसे प्रयत्न को कभी भी मौलिक साहित्य की तुलना में कमतर या हीनतर नहीं समझना चाहिए । एक जिम्मेदार साहित्यकार के नाते ऋषभजी ने उसकी {अनुवाद की} उपादेयता को समझते हुए न केवल दूसरे लेखकों को प्रोत्साहित किया , अपितु मौलिक रचनाकार होते हुए भी विश्व-स्तर के उत्कृष्ट लेखकों की रचनाओं के अनुवाद द्वारा हिन्दी साहित्य के भंडार को भरने का एक महत्वपूर्ण कार्य भी संपन्न किया ।

प्रकाशक ऋषभचरण जैन :

यद्यपि प्रकाशन-कार्य की गणना किसी साहित्यकार के साहित्यिक कृतित्व के अन्तर्गत समाहित नहीं होती , तथापि हम उसे उनके कृतित्व का एक आयाम तो कह ही सकते हैं , क्योंकि उसके द्वारा भी उन्होंने हिन्दी की सेवा की है । आज प्रकाशन के क्षेत्र में दिल्ली का जो अप्रतिम स्थान है उसे देखते हुए कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले यहां गिने-चुने ही प्रकाशक रहे होंगे और हिन्दी प्रकाशन के नाम पर केवल कुछ सिनेमा के गीतों की किताबें ही उपलब्ध हुआ करती थीं । हालांकि श्री. रामचन्द्र शर्मा ने "महारथी " पत्रिका के प्रकाशन से इस दिशा में पहल अवश्य की थी , परंतु पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य तो सन् 1928 में ऋषभचरण जैन द्वारा ही आरंभ हुआ । इस क्षेत्र में वे इतने सफल रहे कि स्वयं प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्र के नाम लिखे एक पत्र में लिखा है -- " मुश्किल तो यह है कि व्यवसाय में जितना मैं कच्चा हूं उतने ही तुम भी कच्चे हो । वरना क्या बात है कि ऋषभचरण सफल हो और हम लोग असफल रहें । " [30]

तात्पर्य यह कि ऋषभजी ने अपने प्रकाशन-कार्य द्वारा हिन्दी साहित्य के निर्माण और हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में अत्यंत श्लाघनीय कार्य किया है । उन्होंने सन् 1926-27 में "हिन्दी पुस्तक कार्यालय"

नामक एक स्वतंत्र प्रकाशन-प्रतिष्ठान की स्थापना की और अपनी प्रथम रचना "पैसे का साथी " भी वहीं से प्रकाशित की । स्वयं लेखक होने के कारण उन्होंने अनेक नवोदित लेखकों को भी प्रोत्साहित किया । सन् 1929 में लाहौर अधिवेशन [कांग्रेस] के अवसर पर उन्होंने जैनेन्द्र की तीन कहानियों का एक संकलन "फांसी" नाम से प्रकाशित करवाया था । सारी प्रतियां हाथोंहाथ बिक गईं थीं और जैनेन्द्रजी एक लेखक के रूप में भी स्थापित हो गए । क्र "[illegible] " फांसी " के प्रकाशन के ही कारण क्रांतिकारियों का ध्यान जैनेन्द्र की ओर आकृष्ट हुआ और उसके कारण हो जैनेन्द्र को और अतएव हिन्दी को सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय" जैसा साहित्यकार प्राप्त हुआ ।

इसी प्रकाशन संस्था से "विश्वविहार" नामक हिन्दी का प्रथम विश्वकोश प्राप्त हुआ जो दस खण्डों में प्रकाशित हुआ था । स्व. गोपालसिंह नेपाली का काव्य-संग्रह "उमंग" भी यहां से ही प्रकाशित हुआ । "टाल्स्टाय की डायरी " तथा डूमा के उपन्यासों के अनुवादों के प्रकाशन से ऋषभजी ने अनूदित साहित्य के प्रकाशन की प्रवृत्ति को भी एक गति प्रदान की । "हिन्दी पुस्तक कार्यालय " के अतिरिक्त साहित्य-मंडल , रूपवाणी प्रिन्टिंग हाऊस , आर.सी. जैन एण्ड कंपनी , युगधाम , मानव धर्म वितरक कंपनी , कास्मोपोलिटन ट्रेड लि. प्रभृति व्यावसायिक संस्थानों को प्रस्थापित करने का श्रेय भी ऋषभजी को ही जाता है । इनमें से कुछ संस्थान आज भी अन्यान्य नामों से दूसरे लोगों द्वारा संचालित हो रहे हैं । इन्हें हम ऋषभजी का सामाजिक कृतित्व भी कह सकते हैं ।

ऋषभचरण जैन साम्प्रतिक राजनीति से भी संलग्न थे । फलतः अपनी प्रकाशन संस्था से उन्होंने यशपाल कृत "लेनिन और गांधी" नामक पुस्तक को भी छद्म नाम से प्रकाशित करवाया था । जब यह पुस्तक सन् 1931 में प्रकाशित हुई थी तब उस पर उसके वास्तविक रचनाकार यशपाल का नाम नहीं था ।[31]

ऋषभचरण जैन द्वारा प्रस्थापित " साहित्य-मंडल" सन् 1934 तक देश के अत्यंत ख्यातिप्राप्त हिन्दी प्रकाशनों की प्रथम पंक्ति में स्थान पा चुका था तथा सन् 1939 तक कुछ ही वर्षों में उनका यह प्रकाशन-व्यवसाय पर्याप्त समृद्ध हो चुका था । यदि वे अपने इस मूल व्यवसाय से जुड़े रहते और फिल्म-व्यवसाय की ओर अग्रसरित न होते तो शायद हिन्दी साहित्य की वे और भी अधिक सेवा कर पाते ।

ऋषभचरण जैन और फिल्म-व्यवसाय :

यद्यपि इसकी गणना भी उनके साहित्यिक कृतित्व में तो नहीं हो सकती , तथापि इस प्रवृत्ति ने उनके साहित्यिक कृतित्व को प्रभावित किया है , अतः उसकी थोड़ी चर्चा कर लेने में प्रासंगिकता ही रहेगी । सन् 1935 से 1945 का समय ऋषभजी के लिए काफी अच्छा रहा । इस समय दरमियान उन्हें काफी यश और धन की प्राप्ति हुई । सन् 1939 तक उनका कारोबार इतना फैल चुका था कि पुराना स्थान छोटा पड़ने लगा और दरियागंज में "दरबार गृह " नाम से उन्होंने एक विशाल भवन का निर्माण किया । इसकी नींव लब्धप्रतिष्ठ क्रांतिकारी मानवेन्द्रनाथ राय द्वारा रखी गईं थीं । इसी "दरबार गृह " में छापखाना , बिक्री विभाग , संपादकीय विभाग , बाइंडिंग विभाग , अतिथि-कक्ष आदि विभिन्न विभाग स्थापित किए गए थे । परन्तु ऋषभजी की महत्वाकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं थी और इनके रहते वे सन् 1941 में फिल्म-वितरण के व्यवसाय की ओर आकृष्ट हुए । सर्वप्रथम उन्होंने किशोर साहु की अत्यंत चर्चित फिल्म "राजा" के वितरण अधिकार प्राप्त किए । "राजा" प्रारंभ में कुछ असफल रही , पर बाद में उसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई । "बदलती दुनिया" नामक फिल्म के वितरण अधिकारों से उन्हें आशातीत संपत्ति प्राप्त हुई और उन्होंने अपने व्यवसाय को विस्तृत करने हेतु करांची , लाहौर आदि शहरों में भी उसकी नयी शाखाएं स्थापित की । परंतु भाग्य का कुछ ऐसा चक्कर चला कि "पराया धन" नामक फिल्म बुरी तरह से असफल रही । इसमें उनकी काफी पूंजी डूब

गई । "पराया धन " का यह करारा प्रहार भूले भी नहीं थे कि भारत-विभाजन की घटना हो गई । लाहौर और करांची के पाकिस्तान में चले जाने से× से उनकी वहां की उगाही भी डूब गई । इतना कम था कि उनके दिल्ली स्थित गोदामों में आग लग गई । आग के कारण अधिकांश फिल्मों के प्रिन्ट भी जल कर स्वाहा हो गये । लेनेदारों के तकावे बढ़ते गये । कुछ लोगों ने तो कोर्ट में दावे भी ठोक दिए । सगे रिश्तेदारों तथा साथियों ने मुंह मोड़ लिया । प्रेस , पत्र , पुस्तकें सब सस्ते में बेच डाला । "चित्रपट" सत्येनजी ने खरीद लिया । "सचित्र दरबार" पहले ही उनके एक सहयोगी शास्त्रीजी के पास पहुंच चुका था । प्रेस बहुत सस्ते दामों में अपने एक पुराने मुलाजिम को बेच दिया । "रूपवाणी" को अजीतप्रसाद जैन ने खरीद लिया । यह पहले बताया जा चुका है कि ऋषभजी ने अपनी सारी पुस्तकें सनक में आकर केवल 400/= रूपयों में अपने एक सहयोगी धर्मपाल गुप्ता को बेच डाली थीं । अतः आघात पर आघात होते गए और अन्ततः आपने अपना मानसिक संतुलन खो दिया । यह अवस्था अन्त तक रही और जनवरी×सन्××1985×× सात अगस्त सन् 1985 को दोपहर 1.45 बजे उनका निधन हो गया ।

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं :-

(1) ऋषभचरण जैन के कृतित्व पर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक , सांस्कृतिक , साहित्यिक गतिविधियों का प्रभाव देखा जा सकता है । विशेषतः आर्यसमाज, ब्रह्मोसमाज , थियोसोफिकल सोसायटी जैसी सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं तथा दयानंद सरस्वती , स्वामी श्रद्धानंद , विवेकानंद , रामकृष्ण परमहंस जैसे महानुभावों के चरित्रों का उन पर विशेष प्रभाव है । राजनीति के क्षेत्र में वे गांधीजी तथा क्रांतिकारी देशभक्त दोनों से प्रभावित हैं । साहित्य के क्षेत्र में जहां एक तरफ प्रेमचन्दजी इनके आदर्श हैं , वहां दूसरी तरफ उग्र , चतुरसेन शास्त्री प्रभृति से भी वे प्रभावित हैं ।

§2§ ऋषभजी का व्यक्तित्व बहुमुखी है , अतः उनके कृतित्व में भी हमें यह बहुआयामिता दृष्टिगोचर होती है । वे उपन्यासकार , कहानीकार , निबंधकार , अनुवादक , संपादक , प्रकाशक , फिल्म-वितरक प्रभृति कई आयामों में हमारे सामने आते हैं ।

§3§ उनके करीब 25 जितने मौलिक उपन्यास हैं । अनूदित रचनाओं की संख्या करीब सात हैं । उनकी कहानियां पांच कहानी संकलनों में संगृहीत हैं ।

§4§ उन्होंने "चित्रपट" , "सचित्र दरबार" , "रूपवाणी" जैसे पत्रों को चलाया तथा उनका संपादन-कार्य किया । इन पत्रों के द्वारा उन्होंने समाज व साहित्य दोनों की सेवा की । विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मसलों को वे समय-समय पर उठाते रहे और इस प्रकार समाज का दिशा-निर्देश करते रहे । नवोदित लेखकों व कवियों को प्रोत्साहित करके उन्होंने हिन्दी साहित्य की भी अतुलनीय सेवा इन पत्रों के माध्यम से की । प्रेमचन्द की भांति उन्होंने भी हिन्दी साहित्यकारों की दूसरी पंक्ति को निर्मित करने के अपने उत्तरदायित्व को बखूबी निभाया ।

§5§ अपनी प्रकाशन संस्थाओं के द्वारा उन्होंने कई लेखकों को प्रश्रय दिया । दिल्ली को प्रकाशन-केन्द्र बनाया ।

§6§ अन्त में फिल्म-वितरण के व्यवसाय को अपनाया । इसमें अतुलनीय संपत्ति को अर्जित की , परन्तु इसीसे उनका पतन भी हुआ । सन् 1945 से उन्हें निरंतर घाटा होता गया । विभाजन की घटना ने तो उनकी कमर ही तोड़ दी । आर्थिक आघातों को न सह पाने के कारण अन्ततः वे विक्षिप्त हो गये और मृत्युपर्यन्त उसी अवस्था में रहे ।

====== xxxxxxx =======

:: सन्दर्भानुक्रम ::

§1§ बाबू श्यामसुंदरदास : निबंध- " साहित्य और समाज " ।

§2§ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : निबंध- " साहित्य और सामाजिक प्रगति " : साहित्यिक निबंध : सं. बद्रीनाथ तिवारी : पृ. 127

§3§ आचार्य विनयमोहन शर्मा : निबंध - " साहित्य में वाद और प्रयोग क्यों ? " : साहित्यिक निबंध : सं. बद्रीनाथ तिवारी : पृ. 103-104 ।

§4§ काव्य के रूप : बाबू गुलाबराय : पृ. 5 ।

§5§ "हिन्दी साहित्य का इतिहास " : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 536 ।

§6§ " हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास " : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 53 ।

§7§ द्रष्टव्य : " हिन्दी उपन्यास : प्रेमचन्दोत्तरकाल " : डा. रामशोभितप्रसादसिंह : पृ. 162 ।

§8§ मेरी कहानी : पं. नेहरू : पृ. 112-113 ।

§9§ " युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध " : डा. पारूकांत देसाई : पृ. 4 ।

§10§ " हिन्दी उपन्यास : उद्‌भव और विकास " : डा. सुरेश सिनहा : पृ. 138 ।

§11§ "ऋषभचरण जैन : जीवन झाँकी " से ।

§12§ सुधा पत्रिका : 1930 ।

§13§ माया : जून : 1932 ।

§14§ सरस्वती : मार्च : 1932 ।

§15§ "हंस" का विशेषांक : 1932 ।

§16§ चित्रपट : जून : 1932 ।

§17§ माधुरी : तुलसी संवत : 307 ।

§18§ चित्रपट : 1934 ।

§19§ चित्रपट : नवम्बर : 1936 ।

§20§ केरैवान : इंग्लिश मन्थली : मे : 1981 ।

§21§ द्रष्टव्य : " प्रेमचन्द चिट्ठी-पत्री " : 3 सितम्बर - सरस्वती प्रकाशन : पृ. 37 ।

§22§ शोधार्थी की व्यक्तिगत मुलाकात के आधार पर ।

§23§ "ऋषभचरण जैन : जीवन झांकी " : पृ. 7 ।

§24§ वही : पृ. 7 ।

§25§ द्रष्टव्य : समीक्षायण : डा. पारूकांत देसाई : द्वितीय संस्करण : पृ. 127 ।

§26§ कण्ठहार : ऋषभचरण जैन : सं. 1955 : भूमिका से ।

§27§ " आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास " : डा. श्रीकृष्णलाल : पृ. 321 ।

§28§ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : ले. शिवनारायण : पृ. 175 ।

§29§ लेख - " हिन्दी में अनुवादों के प्रति उदासीनता " : ऋषभचरण जैन : चित्रपट : मार्च : 1935 ।

§30§ "प्रेमचन्द चिट्ठीपत्री " : जागरण कार्यालय : 24 अक्तूबर : 1933 : पृ. 87 ।

§31§ नवभारत टाइम्स : 1-1-1980 : श्री. ऋषभचरण जैन से संबंधित एक लेख के आधार पर ।

===== XXXXX ======